टूटे सपने

●

द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण'

किताब महल, इलाहाबाद

विषय सूची

१. चूड़ियाँ — १
२. गंगा — २६
३. शान्ति — ४८
४. चम्पा — ६३
५. काग़ज़ के टुकड़े — ८७
६. भूल — ६८
७. एक सवाल — ११२
८. दीवाली — १३६
६. डर — १६८
१०. मास्टर — १८३
११. शीशे की देही — १६८
१२. टूटे सपने — २११

ने अपना सलोना मुखड़ा ऊपर को न किया। नज़र नीची किये-किये गोपीनाथ का हाथ पकड़े-पकड़े आगे बढ़ने लगी, भीड़ से बचती-बचती।

गोपीनाथ की आँखों से सारा दृश्य जैसे ओझल हो गया। आस-पास चलते नर-नारियों के चेहरे सब लुप्त-से हो गये। दिशा और काल का ज्ञान खो गया और वह मन्त्रमुग्ध-सा उस अपरिचिता रमणी के साथ आगे बढ़ता गया।

कहाँ वह चला जा रहा है?

ऐसा लगा कि स्वप्न देख रहा है। ऐसा लगा कि मानो राह बहुत लम्बी हो गई है और कभी समाप्त न होने वाला यह हाथ-में-हाथ दिये चलना सृष्टि के आदि काल से हो रहा है। इस काल की अवधि जैसे बहुत लम्बी हो गई है। ज़मीन पर नहीं, कहीं आकाश के बीच यह यात्रा हो रही है। एक अनिर्वाच्य अनुभूति से हृदय का ओर-छोर भर उठा।

कहाँ चला जा रहा है वह?

'कहाँ चले जा रहे हो?'—नवयुवती ने आगे बढ़ते गोपीनाथ को हाथ खींच कर रोका और फिर गोपीनाथ का हाथ छोड़कर पास वाली दूकान को बाहर-भीतर निहारती हौले से बोली—'यही दूकान तो थी?'

तब गोपीनाथ ने भी मानो धरातल पर उतर कर उस दूकान को देखा। यह तो चूड़ी वाले की दूकान है। गोपीनाथ इस बाज़ार में आते-जाते हज़ारों बार शायद इस दूकान को देख चुका है। फिर भी ऐसा लगा कि वह कोई नयी दूकान है, नये ढंग से सजी है और किसी दूसरे शहर के किसी दूसरे बाज़ार में कहीं है।

दो कम उम्र के छोकरे सामने 'शो केस' के आगे बिखरी रंग-बिरंगी चूड़ियों को जल्दी-जल्दी बीन रहे थे। भीतर से मालिक निकला और नवयुवती पर दृष्टि पड़ते ही परिचित के स्वर में बोला—'आ गई माता जी?'

'यही दूकान है!' फिर दूकानदार से कहा—'लाइये, हमारी चूड़ियाँ दीजिये।'

अचानक उधर से एक भीड़ का रेला आया और गोपीनाथ साथिनी के ऊपर गिरता-गिरता बचा। हँसने लगी पतले लाल होठों ने और नजर दूकानदार की ओर किये-किये बोली—'लाओ, पाँच रुपये निकालो।'

'पाँच रुपये निकालो!'

गोपीनाथ की जेब में एक चिट्ठी थी। चिट्ठी एक साथी के लिए लिखी थी और उसे टिकिट लगाकर लेटर-बक्स में छोड़ना था। टिकिट मुहल्ले के डाकखाने से लेना था और उसी बहाने अपना पाँच रुपये का नोट भुनाना था। सो जेब में वह बिना टिकिट वाली चिट्ठी थी और पाँच रुपये का नोट था और एक रूमाल था सफेद।

दूकानदार चूड़ियों का सेट जल्दी-जल्दी काग़ज में लपेट कर एक डिब्बे में सँभाल कर रखने लगा। नवयुवती उसी ओर देख रही थी बराबर। दूकानदार डिब्बे का ढक्कन लगाकर सुतली से उसे बाँधने लगा तो नवयुवती ने तनिक झिड़क कर कहा—'लाओ, दो न रुपये!'

रुपये! गोपीनाथ ने जेब में दाहिना हाथ डाल कर चिट्ठी निकाल ली, फिर बायें हाथ की अँगुलियों से जेब को चौड़ा करके मुँह नीचे झुका उस नोट को देखने लगा। नोट रूमाल के नीचे दब गया था, सो गोपीनाथ को दीख नहीं रहा था।

उधर दूकानदार 'पैकेट' लिये पास आया। इधर पीछे से भीड़ आई। गोपीनाथ जेब चीरे-चीरे नोट को आँखों से ढूँढ़ रहा था। दूकानदार ने पैकेट आगे किया। तभी नवयुवती ने इधर को घूमकर घबराये से स्वर में कहा—'जल्दी दो न!' और गोपीनाथ के हाथ की वह चिट्ठी छीनकर उसी तरह बोली—'इस हाथ से निकालो न!'

गोपीनाथ ने जल्दी से दाहिना हाथ जेब में डाले कर रूमाल खींचा। नवयुवती ने रूमाल भी झट ले लिया। नोट नीचे सिकुड़ा पड़ा था जेब

में। गोपीनाथ ने दुवारा हाथ डालकर शीघ्रता से उस नोट को बाहर निकाला और छाती पर सटी खड़ी उस अज्ञात सुन्दरी से पहिली बार मुँह खोलकर बोला—'यह लीजिये !'

[illegible] नवयुवती ने उसके चेहरे की ओर देखा और नज़र से नज़र मिलते ही एक चीख मारी।

सामने खड़े दूकानदार ने यह दृश्य देखा तो घबरा कर बोला—'क्या हुआ ?'

गोपीनाथ ने बुद्धिमानी की। जल्दी से नोट दूकानदार के आगे किया और जल्दी से साहसपूर्वक नवयुवती की सुकुमार गोरी बाँह पकड़ कर आगे बढ़ता बोला—'चलिये !'

भीड़ फिर वहुत बढ़ गई थी और गोपीनाथ राह के किनारे-किनारे अर्धचेतन-सी उस नवयुवती की बाँह पकड़े-पकड़े व्यस्त भाव से आगे बढ़ता गया, बढ़ता गया। यहाँ तक कि उस चौराहे पर आ लगे दोनों, जहाँ दक्षिण ओर वाली सड़क प्रायः खड़ी पड़ी थी, और पुलिस के सिपाही बाक़ी दोनों सड़कों से आने वाली जनता को सारी शक्ति लगाकर रोक रहे थे कि आगे वाले लोग दब न जायँ।

दोनों दक्खिनी सड़क पर आ खड़े हुए। और गोपीनाथ ने हाथ से मुँह का पसीना पोंछ कर एक वार चारों ओर नज़र दौड़ा कर गहरी साँस ली। फिर डरते-डरते उसने साथिनी की ओर देखा, जो पलक नीचे किये जमीन को ताक रही थी।

बिलकुल स्पष्ट था कि उसके साथ का आदमी कहीं भीड़ में छूट गया और उसने धोखे से गोपीनाथ को 'वही' समझ कर पकड़ लिया और अब आवाज सुनकर और चेहरा देखकर इतनी देर बाद जान पाई वेचारी।

दोनों हतबुद्धि-से खड़े थे। संकोची गोपीनाथ के माथे पर बार-बार पसीना आने लगा। शायद नवयुवती भी पसीने से नहा रही थी। वह जड़ होकर खड़ी थी और जमीन को ताके जा रही थी, ताके जा रही थी।

गोपीनाथ ने आखिर साहस बटोरा। साहस बटोर कर ओंठ खोले, कहने को हुआ। क्या कहे? क्या कहे? भर्राये-से स्वर में बोला—'आप······'

तभी ठीक सामने उत्तर की ओर से एक हाथ ऊपर आसमान में उठा दिखाई दिया। हाथ उठाने वाला उन्हीं को देखता लम्बी डगें भरता सामने से चला आ रहा था। पलक मारते वह पास आ पहुँचा। आमने-सामने हुए और दोनों व्यक्तियों ने क्षण भर को एक-दूसरे को नजर भर देखा। जैसे चौंक पड़े दोनों।

गोपीनाथ को लगा कि वही स्वयं अपने सामने खड़ा है। चेहरे का नक्शा कितना मिलता है! और कद और रंग हूबहू एक ही से हैं। यहाँ तक कि कमीजों में भी फर्क नहीं है। फर्क सिर्फ इतना ही था कि आने वाला व्यक्ति आँखों पर मोटे शीशे वाला चश्मा लगाये था।

उसने बस एक क्षण गोपीनाथ पर नजर जमाई होगी कि तुरन्त पास खड़ी नत नयनों वाली रमणी को लक्ष्य करके पुकार उठा—'कुसुम!'

कुसुम ने चमक कर सिर उठाया और फिर फौरन आँखें नीची कर लीं।

चश्मे वाले ने कहा—'यह खूब किया तुमने!'

कुसुम न बोली।

तब चश्मे वाले ने तिरस्कार के स्वर में कहा—'अब यहीं खड़ी रहेगी, कि चलेगी डेरे पर?'

उसने लपक कर बहिन का हाथ पकड़ा और झटका देकर उसे खींचता ले चला दक्खिन की ओर। गोपीनाथ ने न एक शब्द बोला, न उसकी ओर फिर देखा। बकता-झकता चल दिया बहिन को आगे खींचता।

गोपीनाथ अवाक् होकर वहीं खड़ा रह गया। जरा देर तक उन भाई-

बहिन का जाना देखता रहा, फिर एक साँस खींच कर अपने घर की राह ली ।

मन ही मन मुस्कुराया और मन ही मन बोला, 'यह अच्छी रही !'

चलते-फिरते उसकी आँखों के सामने पूरी घटना घूम गई । कुसुम का सलोना मुखड़ा आँखों के आगे नाच गया और वह चीख़ याद आई । और फिर अपने पाँच रुपयों की याद आई, तो जेब में हाथ डाल कर मूर्ख की तरह नोट टटोलने लगा । जेब खाली थी । तब मन ही मन बोला, 'यह खूब ठुँकी पाँच रुपये की !' आगे बढ़ता गया और मन ही मन कहता गया, 'आज अच्छे उल्लू बने !'

चलते-चलते याद आया कि रूमाल भी ले गई और वह बिना टिकिट वाली चिट्ठी भी लेती गई । फिर एक बार कुसुम का सलोना मुखड़ा आँखों के आगे नाच गया । पाँच रुपये, एक रूमाल, एक चिट्ठी—इतना सामान खोकर भी जाने क्यों अपने को कोसने को जी नहीं चाह रहा था, पर तो भी ऊपरी मन से कहता गया कि 'आज खूब उल्लू बने !'

तभी खट-से किसी ने पीछे से बलपूर्वक उसकी बाँह पकड़ ली और झटका देकर बोला—'कहाँ भागे जा रहे हो हजरत ?'

गोपीनाथ ने गर्दन घुमाई तो वही चश्मे वाला खड़ा था, कठोर चेहरा किये । गोपीनाथ ने नजर नीची करके पूछा—'क्या है ?'

चश्मे वाले ने उसे अपनी ओर को झटका देकर खींचा और बोला—'जरा मेरे साथ तशरीफ ले चलिये ।' और जल्दी-जल्दी गोपीनाथ को घसीटता चौराहे पर खड़े पुलिस इन्सपेक्टर के पास तक लाया और गोपीनाथ की बाँह पकड़े-पकड़े बोला—'यही बदमाश था साहब !'

गोपीनाथ के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं । पुलिस इन्सपेक्टर ने गोपीनाथ को एक नजर ऊपर से नीचे तक देखा, फिर पीछे खड़े सिपाही से बोला—'सुखवीर, इसकी तलाशी तो लो । देखो, सोने का लाकेट है इसके पास ?'

—२—

दुःख, क्षोभ, ग्लानि, क्रोध, तिरस्कार और अपमान से अधमरा होकर गोपीनाथ सारे दिन खटिया में मुँह दिये पड़ा रहा। यहाँ तक कि सूरज डूब गया, और अँधेरा घिर आया नीचे।

पड़ोस के सटे कमरे में जो विधवा बुढ़िया रहती थी, वह गोपीनाथ के कमरे की किवाड़ें खुली देख अँधेरे में भीतर झाँक कर बोली—'गोपी बाबू! कब तक सोते रहोगे, बेटा? अब खाट छोड़ो। दिया-बत्ती जलाओ।'

गोपीनाथ ने उठ कर, कमरे में उजाला किया। बुढ़िया वहीं खड़ी थी। संकोच करके बोली—'बेटा घी नहीं है। ले आते तो जल्दी से खाना बना देती तुम्हारे लिए। उस बेला भी तुमने खाया नहीं। भूखे होगे।'

यही बुढ़िया गोपीनाथ का भोजन पका देती थी और बदले में वह बुढ़िया का किराया अदा कर देता था। अनमना होकर बोला—'दादी, मेरी तबीयत ठीक नहीं है। मेरे लिए मत बनाओ।' और बुढ़िया को आग्रह करने का अवसर न देकर वह झट बाहर निकल गया।

कुल पाँच रुपये उसके पास थे। सो दे आया 'उस' की चूड़ियों में। अब जेब खाली थी। बाहर सड़क पर आकर खाली जेब में हाथ डाला तो रुपयों की याद आई और झन्न्-से सारी घटना स्मृति में आलोड़ित होने लगी कि जिसके बीच कुसुम का वह सलोना मुखड़ा अपना उज्ज्वल आलोक फैलाये था……।

वह रात बीती। फिर दूसरा दिन आया, फिर तीसरा। उसी सड़क से 'पत्रिका' के आफिस की राह थी, जिस पर कुसुम से भेंट हुई थी। मेला समाप्त हो गया था। भीड़ अपने घरों को लौट गई थी। पर दूकानें तो थीं ही। यह बीचोबीच चूड़ीवाले की दूकान है। यहीं से उसने चूड़ियाँ खरीदी थीं। दूकान वह सड़क पर आते-जाते रोज़ दिखती और तब सब

याद हो आता। और याद करके दिल में जाने कैसा सनाका-सा हो जाता, मन विषाद में डूब जाता।

पर पहले दिन जो भाव था, वह दूसरे दिन न रहा। और दूसरे दिन जो था, वह तीसरे दिन न रहा। उदासी और विषाद घटता गया, घटता गया।

सप्ताह बीतते-बीतते फिर एक धक्का मन को लगा। कुसुम की लिखी चिट्ठी आई उसके पास। यों लिखा था उस चिट्ठी में—

'देवता,

और किस सम्बोधन से तुम्हें पुकारूँ?

अपराधिनी ने तुम्हें बहुत यन्त्रणा दी है। इतनी लांछना, इतना अपमान सब कालकूट की तरह पी गये शिवशंकर होकर और मुख से एक शब्द न कहा।

अब क्या करके इस पाप का प्रायश्चित्त करूँ? क्या कहकर तुम से क्षमा की भिक्षा माँगूँ?

अन्धी होकर तुम्हें पकड़ ले गई। निर्लज्ज होकर तुमसे रुपये दिलवाये। फिर अपनी जेब में लाकेट भूल कर तुम्हें चोर बनाया। भैया ने तुम्हारे साथ खूब दुर्व्यवहार किया होगा, पुलिस ने अपशब्द कहे होंगे। चार भले आदमी इकट्ठे हुए होंगे। सब तुम पर व्यंग कर रहे होंगे। सब सहा, सब सहा मुझ पापिनी के लिए।

आज अगर छाती फाड़ कर मर जाऊँ तो भी प्रतिकार नहीं कर पाऊँगी। और एक दुष्टता की। चिट्ठी वह मेरे पास थी। यहाँ आकर खोल कर पढ़ डाली। सुख से मेरे आँसू निकल पड़े। जिन्हें यह पत्र लिखा गया है, तुम्हारे वे मित्र, शिवराम भाई, मेरे भैया के परम मित्र हैं। पत्र मैंने टिकिट लगा कर डाक में छोड़ दिया है। शाम को ही शिवराम भाई को मिल गया होगा।

तुमने पत्र में आने की बात लिखी है। दुर्गापूजा की छुट्टियाँ तो दस

दिन बाद ही हो जायँगी। मेरी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं है। भगवान् ने पापिनी के उद्धार के लिए एक अवसर दिया है।

रोज इन चूड़ियों को देखकर दिल भर आता है। रोज रो लेती हूँ।

राजा दुष्यन्त अपनी शकुन्तला को अँगूठी दे गये थे। कह गये थे—'नामाक्षरं गणय गच्छसि यावदन्तम्।'

मेरे नाम के अक्षर गिनना। आख़िरी अक्षर पूरा होते-होते लौट आऊँगा।

तुम्हारे नाम के अक्षर मैंने गिन कर देख लिये हैं। बाईस तारीख़ को पूरे हो जायँगे। कैसा आश्चर्य है, उसी तारीख़ को तुमने यहाँ आने की बात लिखी है!

पर कैसे मैं तुम्हारे दर्शन पाऊँगी, कैसे क्यों कर पाऊँगी? लाज की दीवार राह रोके खड़ी जो है......।

—३—

'एक सौ पचहत्तर' मकान का नम्बर था। खूब अच्छी तरह यह नम्बर याद था। फिर भी एक बार कुसुम का पत्र खोल कर देख लिया। छतरी उठाई, और साथी शिवराम से बोला कि 'जरा चौक तक घूम आऊँ। मुझे बाल कटवाने हैं।'

साथी कमरे की सफ़ाई करने में लीन थे। बिना नज़र उठाये बोले—'ज़रा ठीक ढंग से कटवाना। ससुराल में पहली बार जाओगे। अच्छा 'इम्प्रेशन' पड़ना चाहिये।'

ठहाका मार कर गोपीनाथ चला आया। नयी जगह, नयी राहें, नये आदमी! बड़ा अजीब-सा लग रहा था। और रह-रह कर एक सौ पचहत्तर नम्बर याद आ जाता था। इसी शहर में कुसुम रहती है। पन्तजी की वह कविता याद आने लगी—'कौन-सा आलय नगर विशाल!

कर रहीं तुम [illegible]।

शलभ-चंचल मेरे मन-प्राण।'

दस क़दम चला होगा कि ऐसा लगा कि सामने से कुसुम चली आ रही है। धड़कन दुगुनी हो गई। जल्दी से एक पेड़ की ओट में हो गया। पर वह युवती कुसुम न थी। पास से होकर निकली, तो पता चला। सन्तोष की एक साँस ली और मकानों-दूकानों को देखता आगे बढ़ने लगा।

एक सजा हुआ सैलून दिखाई पड़ा आख़िर। नाई अपने इष्ट-देवता गणपति को माला चढ़ा रहा था। ग्राहक को देखकर शीरीं ज़ुबान से बोला—'आइये, हुज़ूर!'

गोपीनाथ बाल कटवाता हुआ, नाई से बातें करने लगा। इधर-उधर की चर्चा करके अचानक उससे पूछ बैठा—'आलमगंज किधर है यहाँ से?'

नाई बोला—'सरकार, यह इधर पूरब वाली सड़क से जाइये बीस क़दम, तो मोड़ मिलेगा एक। बस, आगे आलमगंज ही है। कहीं बाहर से तशरीफ़ लाये हैं हुज़ूर? बालों में तेल लगा दूँ, मालिश कर दूँ?'

'नहीं, तेल न डालो'—गोपीनाथ ने कहा—'मुझे जल्दी है।'

जल्दी इस क़दर थी कि छाता तक भूल चला वहीं। थोड़ी दूर जाकर फिर लौटना पड़ा।

पर यह जल्दी किस लिए है? मोड़ आ गया वह। और आलमगंज मुहल्ला शुरू हो गया तो बुद्धि ने धीरे से पूछा कि 'कहाँ जा रहे हो? क्या करने?' मन बोला, कि 'उससे मिलने जा रहे हैं।' बुद्धि ने धीरे से हँसकर पूछा कि 'किस तरह? किस तरह मिलना होगा उससे?' मन उद्दण्ड होकर बोला कि 'क्यों, मिलने में क्या अड़चन है? उसने तो स्वयं ही लिखा था। क्या वह मिलना नहीं चाहती?' बुद्धि बोली कि 'मिलना तो चाहती है, लेकिन वह नारी जो है। कुल-शील, लज्जा, मर्यादा तो है उसकी। कैसे सब बन्धन तोड़कर वह एक अज्ञात-से परदेशी की अभ्यर्थना करने को आ खड़ी होगी सामने? और वह भी तो होगा घर में, वह चश्मे वाला, जिसने तुम्हारे ही शहर में तुम्हारी वह दुर्गति की थी और लाकेट

का पता लग जाने पर भी चलती बेला तुम्हें 'बदमाश' सम्बोधन से भूषित किया था। वह भी अगर घर पर हुआ तो? घर पर वह इस समय जरूर होगा। समझे बच्चू?'

पर मन ने एक न सुनी। कुसुम का सलोना मुखड़ा याद करता पैरों से बोला कि 'जरा तेजी से चलो न!' आँखों से बोला कि 'मकानों के नम्बर देखती चलो। एक सौ पचहत्तर है। भूल मत जाना।'

बुद्धि दुख मना कर बोली कि 'गोपीनाथ, मेरा कहा मानो। साथी के डेरे पर लौट चलो। यह बेवकूफी न करो भाई! तुम्हें क्या हो गया है?'

पर मन ने सुनने न दिया। आँखों से बोला कि 'देखना, इस मकान का नम्बर देखना ज़रा!'

गोपीनाथ ने सामने वाले मकान का नम्बर पढ़ा तो वही निकला, जिसे खोज रहा था। दिल तेज़ी से धड़कने लगा। चारों ओर, ऊपर-नीचे नज़र दौड़ाई। कितनी आलीशान बिल्डिंग है। इसी में रहती है वह! हे भगवान्! चौखट और किवाड़ों तक पर वार्निश लगी है। यही एक सौ पचहत्तर नम्बर का मकान है। गोपीनाथ ने फिर एक बार नम्बरों को ध्यानपूर्वक पढ़ा तो देखा कि पचहत्तर नहीं, बहत्तर है।

तब वह सावधानी से एक-एक नम्बर पढ़ता आगे बढ़ने लगा। यह तिहत्तर है। यह रहा चौहत्तर। लो, यह है पचहत्तर!

एक अत्यन्त साधारण से घर के सामने वह खड़ा था, जिसकी किवाड़ें बहुत पुरानी थीं और दरवाजे की एक 'साइड' से सारा चूना झर गया था और भीतर की ईंटें दिखाई दे रही थीं और एक ईंट टूट कर गिर गई थी कभी, जिससे झरोखा बन गया था। गोपीनाथ धड़कता कलेजा लिये झुककर उसी छिद्र से भीतर की ओर देखने लगा कि ठीक उसी दम फड़ाक्-से किवाड़ खुले और एक व्यक्ति बाहर निकल आया।

गोपीनाथ ने चौंककर जो गरदन सीधी की तो अपने सामने चश्मे वाले को खड़ा पाया।

क्षण भर को दोनों की दृष्टियाँ मिलीं। संकुचित होकर गोपीनाथ ने दृष्टि गिरा ली और पत्थर बन कर रह गया। होश-हवास गुम हो रहे थे और बुद्धि उसकी चकरा रही थी।

चश्मे वाले ने कड़क कर पूछा—'क्या देख रहे थे झाँक कर ?'

गोपीनाथ चुप।

चश्मे वाले ने और भी कड़क कर पूछा—'बोलता क्यों नहीं ? जवाब दे, तू इस घर में क्यों झाँक रहा था ?'

बुद्धि ने झटका खाया और गोपीनाथ ने फौरन कहा काँपते स्वर में—'मैं एक सज्जन को खोज रहा था।'

'किस सज्जन को ? क्या नाम है सज्जन का ? जल्दी बोलो, कौन सज्जन ?'

गोपीनाथ ने उसी काँपती आवाज़ में जल्दी से सोच कर कहा—'विद्याधर शर्मा वैद्य।'

'इलाज के लिए ?'

'जी।'—गोपीनाथ ने शीघ्रता से कहा।

चश्मे वाला अपने मकान की दोनों छोटी सीढ़ियाँ उत्तर कर नीचे आया और शान्त स्वर में गोपीनाथ से बोला—'आइये !' और तीन क़दम रखकर उसी आलीशान बिल्डिङ्ग के आगे आ खड़ा हुआ और पीछे खड़े गोपीनाथ से इशारा करके बोला—'आपके वैद्य जी इसी में रहते हैं। आवाज दीजिये।'

गोपीनाथ अचकचा कर रह गया।

'दीजिये आवाज़ !'

गोपीनाथ ने किसी प्रकार बलपूर्वक आवाज़ लगाई—'वैद्य जी !'

जाने कौन भीतर से एक भद्दी, मोटी आवाज़ में बोला—'कौन है ?' और पलक मारते वह वार्निशदार दरवाज़ा खुला और एक भीमकाय, काले-भुजंग आदमी ने अपनी बड़ी-बड़ी मूँछों के भीतर से प्रश्न किया—

'किसको खोजते हो ?' और फिर चश्मेवाले को देखकर हाथ जोड़ कर बोला—'पालागन, भैया जी !'

चश्मे वाले ने शान्त स्वर में मूँछ वाले से कहा—'खुश रहो ! दिलावर, यह अपना इलाज कराने आया है।'

दिलावर गोपीनाथ को ऊपर-नीचे देखने लगा।

गोपीनाथ की बुद्धि फिर चकराने लगी और होश-हवास गुम होने लगे।

चश्मे वाले ने शीघ्रता से कहा—'यह गुंडा बनारस में कुसुम के पीछे लगा था। और पता लगाता यहाँ दो सौ मील पर भी आ पहुँचा। हिम्मत देखो इसकी ! अभी हमारे घर में झाँक रहा था। पकड़ा गया तो कहता है कि 'इलाज कराने आया हूँ इस गली में !' दिलावर, तुम जरा कर तो दो इसका इलाज !'

दिलावर ने आँखें तरेर कर कहा—'क्यों बे ?' और ज़रा-सा आगे को झुक कर उसने गोपीनाथ की बाँह पकड़ ली।

गोपीनाथ के होश फ़ाख़्ता हो गये।

उस भीमकाय नौकर ने दाँत पीस कर कहा—'साले, यह बनारस नहीं है। भैना को बुरी निगाह से देखने वाले की आँखें निकाल लूँगा ! पीस दूँ तेरी हड्डी-पसली ?' कह कर उसने गोपीनाथ की बाँह उमेठ कर एक धक्का दिया ज़ोर से।

गोपीनाथ क़लाबाज़ी खाता दूर तक लुढ़कता चला गया। आँखें आसमान ताक गईं। बुद्धि ने फिर झटका खाया। साहस करके उठा तो मूँछ वाला फिर उस पर झपटता आया। बीच में दो गज़ का फ़ासला था। यह आया दैत्य, यह आया ! अबकी बार हड्डी-पसली सचमुच चूर-चूर हो जायगी। बुद्धि ने खूब ज़ोर से चिल्ला कर कहा कि 'भाग जल्दी !' और गोपीनाथ सिर पर पैर रख कर भाग खड़ा हुआ।

'पकड़ना साले को !'—पीछे से एक आवाज़ सुनाई दी। पर गोपीनाथ ने हिम्मत न हारी। भागता गया, भागता गया। गनीमत थी कि

गली प्रायः सूनी थी। इक्के-दुक्के लोग ही चल रहे थे। गोपीनाथ ने दौड़ बन्द न की। दौड़ता गया, दौड़ता गया। आख़िर एक संभ्रान्त व्यक्ति से टकराया तो उन्होंने उसे पकड़ लिया और सांत्वना के स्वर में बोले—'क्या हुआ? क्यों इस तरह घबराये हुए भागते चले जा रहे हो?'

गोपीनाथ का चेहरा पसीने से तर था, आँखें फटी थीं और छाती ऊपर-नीचे हो रही थी। उसकी ज़ुबान से एक शब्द न निकल सका। कंठ सूख गया था।

भलेमानुस ने पीठ पर हाथ रक्खा और स्नेह से कहा—'होश में आओ, बेटे! किसी विपदा में फँस गये थे? आओ, इधर आओ।' हाथ पकड़ कर ले गये सामने। अपनी बैठक में ला बिठाया। नौकर को बुलाया और हुक्म दिया—'चाय और नाश्ता लाओ।' फिर गोपीनाथ के बालों पर धूल लगी देखकर बोले—'पहले पानी लाओ लोटे में।'

—४—

श्रान्त-क्लान्त होकर दो घंटे बाद साथी के डेरे पर पहुँचा। शिवराम बनियान में साबुन लगा रहे थे। इन्हें देखते ही पूछा—'बनवा आये हजामत?'

'बनवा आया भाई!'

'कैसी बनी?'

हँस कर बोले—'अच्छी बनी।'

'देर बहुत लगी?'

'अच्छी तरह हजामत बनने में तो देर लगती ही है!'

शिवराम ने बनियान धोकर अरगनी पर सूखने को डाली। फिर पास आकर बोले—'देखूँ!' और प्रिय मित्र का सिर घुमा-फिरा कर कहा—'बनी तो अच्छी है।' फिर प्रसन्न भाव से पूछा—'बोलो, क्या खाओगे? शाम को तो वहाँ चलना है। माल उड़ेंगे खूब!'

'कहाँ?'

'तुम्हारी सुसराल में", हँसकर बोले—'एक पन्थ दो काज। दावत के मजे लो और लड़की का पाक-कौशल भी देख लो। वही बनायेगी सब।'

गोपीनाथ ने हँसकर कहा—'तो फ़ाका कर जाओ आज। 'परान्नं दुर्लभं लोके!"

शिवराम ने हँसकर कहा—'वही करेंगे। लघु भोजन पाओ अभी। खिचड़ी चढ़ाये देता हूँ।'

दही के साथ खिचड़ी खाकर दोनों मित्र थोड़ी देर गपशप करते रहे। फिर लम्बी तान कर सो रहे।

ऐसी गहरी नींद आई कि दीन-दुनियाँ की ख़बर न रही। तब के सोये-सोये शाम को जाकर उठे। पहले गोपीनाथ ही जागा। साथी को झकझोर कर कहा—'उठो, कुम्भकर्ण!'

कुम्भकर्ण ने एक अँगड़ाई लेकर कहा—'इतनी उतावली न करो मेरी जान! अभी तो वहाँ तरकारी भी न बन पाई होगी।' फिर उसने लेटे-लेटे ही गाया—

'मेरे आते होंगे चितचोर,
हवा तुम धीरे बहो—'

—५—

शिवराम फ़ुटपाथ पर रुक कर बोले—'आओ, पान खा लें।'

'वहाँ पान नहीं मिलेगा क्या?'

'अरे, वहाँ तो सब-कुछ मिलेगा। लेकिन जरा शानोशौक़त से रईसों की तरह चलना चाहिये न। इधर आओ। इस शीशे के सामने खड़े हो कर देख लो, कोट का कालर वगैरा सब ठीक है न? जरा पीछे मुड़ना। यह यहाँ क्या उठा हुआ है? नीचे कमीज सिकुड़ गई है क्या? ठीक कर लो।'

गोपीनाथ से हँसी रोके न रुकती थी। चलते-चलते एक माला वाला

मिल गया। शिवराम ने पीछे मुड़ कर पूछा—'माला ले लें ? हर्ज क्या है ? डाल लें एक-एक गले में। खुशबू मिलती रहेगी।'

गोपीनाथ ने हँसकर कहा—'बाजे वालों को और ले लो साथ ! बाजा बजता चले आगे-आगे !'

शिवराम ने आगे बढ़ते कहा—'शट-अप ! हम एक कुमारी के जीवन की समस्या हल करने जा रहे हैं। तुम इसे मज़ाक समझते हो ?'

गोपीनाथ ने हँसी रोक कर कहा—'कुमारीजी के बारे में मुझे कुछ बतलाया तक नहीं तुमने ?'

शिवराम ने डाँट कर कहा—'मिथ्याभाषी, मैंने तुझ से नहीं कहा था कि लड़की निहायत खूबसूरत है ? गुणवती, शीलवती, लाजवती, शिक्षिता ! नहीं कहा था तुझ से ?'

गोपीनाथ ने हँस कर पूछा—'पिता क्या करते हैं ?'

'तुम्हें लड़की से शादी करनी है या पिता से ?'

'अरे भाई, मेरा मतलब था......'

'शट-अप ! आम खाओ, पेड़ न गिनो।'

फिर और बात न हुई। तेज कदमों से दोनों जने चलते चले गये।

शिवराम ने एकाएक रुक कर साथी की ओर बिना देखे कहा—'सावधान, नजदीक आ गये हैं। शाइस्तगी से कदम रक्खो !' और खुद धीमे कदमों से चलने लगे।

गोपीनाथ की चाल भी धीमी पड़ गई। और वह गली में इधर-उधर के मकान देखने लगा।

सहसा ऐसा लगा कि यह तो वही सुबह वाली गली है कि इसी गली में तो आगे एक सौ पचहत्तर है, जहाँ वह सलोना मुखड़ा होगा, जहाँ आज सबेरे ही 'इलाज' होते-होते बचा उसका। घबरा कर साथी से पूछने लगा—'अभी कितनी दूर और चलना है ? किधर है मकान ?'

'चले आओ चुपचाप। अभी दूर है।'

बढ़ते गए, बढ़ते गए। और वह आलीशान बिल्डिङ्ग आ गई जिसमें दिलावर दैत्य रहता था। उसकी वार्निश वाली किवाड़ें खुली हुई थीं। गोपीनाथ का रक्त खट्-खट् करके बजने लगा। जो कहीं उस दुष्ट ने फिर देख पाया, तो कचूमर ही निकाल देगा! नजर नीची करके जल्दी-जल्दी आगे बढ़ने लगा और मन-ही-मन हनुमानजी का स्मरण करता गया—'महावीर, विक्रम बजरंगी......' खट् से शिवराम की पीठ का धक्का खाकर रुका। शिवराम भी गिरता-गिरता बचा। घुड़क कर कहा—'बदतमीज! सँभल कर खड़े होओ!'

और तब गोपीनाथ ने एक बार ऊपर को सिर करके देखा—सामने एक सौ चौहत्तर था, जिसकी दीवार एक सौ पचहत्तर से मिली थी।

स्वप्नाविष्ट की तरह एक किनारे खड़ा गोपीनाथ देखता रहा कि शिवराम ठीक उसी पचहत्तर नम्बर की ओर बढ़ता जा रहा है। यह क्या हो रहा है भगवान्?

शिवराम ने कुसुम के दरवाजे पर छड़ी से खट्-खट् की। पलक मारते किवाड़ें खुल गईं और चश्मे वाला किवाड़ों के बीच दिखाई दिया।

हे भगवान्! गोपीनाथ का सिर चकराने लगा।

चश्मे वाले ने हँस कर शिवराम का हाथ पकड़ लिया और स्नेह-प्लावित होकर बोला—'बड़ी देर कर दी भाई? उन्हें साथ ही नहीं लेते आये? अब फिर लौट कर जाओगे? आओ, भीतर आओ। एक बार जरा अपनी आँखों से देख लो कि इन्तजाम सब ठीक है कि नहीं।' कहते-कहते जो उसने सिर उठाया तो दो गज के फ़ासले पर दीवार से सटा 'बनारसी गुंडा' खड़ा दीखा।

तब अति शीघ्रता से उसने बन्धु शिवराम के हाथ से छड़ी खींच ली और छड़ी ऊपर उठाये लपक कर आया और 'बनारसी गुंडे' की पीठ पर सड़ाक् से छड़ी मार कर बोला—'फिर आ गया तू बदजात! फिर इस

गली में आया ! ठहर, तेरी अकल अभी ठीक किये देता हूँ !' और फिर छड़ी खींची मारने को, तो उधर से शिवराम ने चिल्ला कर कहा—'भाई साहब !'

और पलक मारते वह 'बनारसी गुण्डा' कतरा कर भाग गया।

—६—

मंगल को वह अपने घर लौट कर आया। और शुक्र को पीछे-पीछे शिवराम की लिखी चिट्ठी आ पहुँची। साथी ने बहुत दुखी होकर लिखा था—

'...यह क्या लड़कपन तुमने किया ? मुझ से कुछ बात तक न की और यों चुपचाप भाग गये। तुम्हारी भाभी अपने मायके से लौट आई हैं। कुसुम उनसे मिलने आई थी। रो-रोकर सारा क़िस्सा उसने सुनाया। पत्नी ने मुझ से कहा और मैंने हरिप्रसाद, कुसुम के भाई, से कहा तब तो उसने सिर पीट लिया अपना।

यह क्या हो गया भाई ? कैसे सब बनता-बिगड़ता चला गया ? अचरज लग रहा है और दुख भी लग रहा है। तुम तो शादी से साफ इनकार कर गये। पर कुसुम की बातें सुनकर, पत्नी से यह जान कर कि वह तुम पर सब निछावर कर चुकी है, मेरे संताप का ठिकाना नहीं है। अब क्या हो ? कैसे मैं तुम्हें समझाऊँ ? गोपीनाथ, इतने निष्करुण न होओ बन्धु ! उन लोगों को ग़लती सुधारने का मौक़ा दो। हरिप्रसाद कहता है कि वह तुम्हारे चरणों में सिर रख कर क्षमा माँगने को तैयार है, तुम्हारे हाथ से पिटने को तैयार है। किस तरह तुम्हें सन्तोष होगा, सो कहो। अभागिनी लड़की लाज के कारण भाई से कुछ न कह पाई और अब चूर-चूर कलेजा लिये आँखों की राह हृदय का रक्त बहा रही है। क्या कह कर उसे सान्त्वना दूँ, समझ नहीं पा रहा हूँ।

क्या तुम किसी प्रकार भी इन निरीह प्राणियों को क्षमा नहीं कर सकोगे, किसी प्रकार भी नहीं ?

हरिप्रसाद बिलकुल निर्धन है। उसकी बहुत थोड़ी आय है। जीवन का होम करके उसने बहिन का पालन किया है। उसी बहिन के स्वर्णिम भविष्य को छिन्न-भिन्न करके वह आज पागल हो रहा है।

मित्र, इन नसीब के मारे भाई-बहिन पर तरस खाओ। 'हाँ' कह दो बन्धु, 'हाँ' कह दो। कुसुम पर नहीं, हरिप्रसाद पर नहीं, मुझ पर, अपनी भाभी पर यह अनुग्रह करोगे तुम।

शान्तचित्त से विचार करके उत्तर दो...।

और 'पुनश्च' करके लिखा था कि 'कम्बल तुम्हारा यहाँ छूट गया है और छाता, जो तुम से मार-पीट में गिर गया था। उसे हरिप्रसाद मुझे दे गया है...।'

गोपीनाथ ने उसी रात को मित्र के पत्र का उत्तर लिख दिया। अति संक्षेप में लिखा कि '...मुझ से अब इस विषय में पत्र-व्यवहार न करना। क्षमा चाहता हूँ...'

—७—

चार सप्ताह बीत गये। बहुत ही दृढ़ता से गोपीनाथ अपने काम में मशगूल था। आफिस आते-जाते वह चूड़ियों की दूकान दूर से दीख पड़ती तो नज़र घुमा लेता। फिर उसने उस सड़क से जाना ही छोड़ दिया। चौक से घूम कर जाने लगा। मन के अन्तराल में अंकित वह सलोनी छबि धीरे-धीरे धुँधली पड़ने लगी।

अचानक इतने दिनों बाद फिर शिवराम की चिट्ठी आ गई। गोपीनाथ उसके अक्षर पहचानता है। धड़कते कलेजे से गोपीनाथ ने लिफ़ाफ़ा फाड़ा। यह लिखा था उसमें—

'तुम्हारे शहर के म्युनिसिपल बोर्ड में एक क्लर्क की जगह खाली हुई है। चेयरमैन से तुम्हारा परिचय है। हो सके तो मेरे छोटे साले के लिए प्रयत्न कर देखो। उसने अर्जी भेजी है...।' आदि-आदि।

कुसुम के विषय में एक शब्द भी न लिखा था।

क्यों लिखते कुसुम के विषय में ? उसी ने तो अपने पत्र में इसके लिये निषेध लिख भेजा था। साथी क्या इतने बेअक्ल हैं कि फिर उसी दबी बात को उठाते ? परन्तु फिर भी मन में बार-बार प्रश्न उठते रहे कि—उसकी कोई बात क्यों न लिखी ? क्या हुआ फिर उसका ? क्या अब भी वह गोपीनाथ के लिए आकुल-व्याकुल है ?

जाने कैसी एक अव्यक्त वेदना भीतर ही भीतर उसे व्यथित करने लगी। और इतने दिनों से धुँधली पड़ी वह रूप-श्री मानो फिर हृदय के बीच आलोकित हो उठी। मानो वीणा पर धूल छा गई थी और मानो उसका एक तार चोट खाकर झनझना उठा। अस्थिर हो गया गोपीनाथ।

चिट्ठी वह जेब में रक्खे अनमने भाव से बाहर घूमने निकल आया और घूमता-घूमता जो वह क्षण भर के लिए एक जगह ठिठका तो देखा कि सामने वही चूड़ियों की दूकान है। उस दिन, उस बेला खूब आँखें भर कर उस दूकान को देखा। यहीं खड़ी थी, इसी 'शो केस' के पास। यहीं चीख पड़ी और भयभीत मृगी की तरह उसकी ओर देख रही थी इसी जगह...।

शाम को जब आफ़िस बन्द होने लगा तो गोपीनाथ एक कागज हाथ में लिये अपने प्रधान के पास आ खड़ा हुआ।

'क्या है ?'

गोपीनाथ ने वह कागज सामने रख दिया।

प्रधान पढ़कर बोले—'लेकिन जल्दी लौटियेगा। चार दिन से ज्यादा न लगें। क्यों जा रहे हैं आगरे ?'

'जी, मेरी भाभी के पुत्र हुआ है।'

प्रधान ने हँस कर कहा—'तो यों कहिये कि मिठाई खाने जा रहे हैं ! आल राइट् !'

—८—

परिचित सड़कों पर घूमता हुआ ताँगा यहाँ आकर रुक गया तो चौंक

कर गोपीनाथ ने चारों ओर देखा। फिर वह बग़ल में बिस्तर लिये अपराधी की भाँति अपने साथी के दरवाजे पर जा खड़ा हुआ।

शिवराम ऊपर की मंजिल में रहते थे। बाहरी ज़ीने से आना-जाना होता था। गोपीनाथ ने एक बार किवाड़ें खींचीं। किवाड़ें भीतर से बन्द थीं। क्षण भर खड़ा रहा बिस्तर लिये। फिर उसने दबी ज़ुबान से साथी को पुकारा। कोई न बोला।

गोपीनाथ ने रुककर किवाड़ें थपथपाईं।

तब सिर के ऊपर से किसी कोमल कंठ ने पूछा—'कौन है?'

अँधेरा हो गया था और लाइट् दूर कोने पर थी। गोपीनाथ ने पहचानने की कोशिश की। ऊपर को मुँह करके पूछा—'शिवराम जी हैं?'

'जी नहीं,' कोमल कंठ ने कहा—'कहीं बाहर गए हुये हैं।'

गोपीनाथ की समझ में नहीं आ रहा था कि बोलने वाला कौन है। बिस्तर लिये खड़ा था और चक्कर में था कि अब क्या कहे कि फिर अचानक ऊपर से उसी कोमल कंठ ने पूछा—'आपका शुभ नाम क्या है?'

गोपीनाथ ने मुँह ऊपर को करके कहा—'मैं बनारस से आया हूँ।'

और अँधेरे में ही देखा कि छुज्जे से वह छाया-मूर्त्ति हट गई।

तब जीने की सीढ़ियों पर बिस्तर रख कर वह रूमाल से अपना पसीना पोंछने लगा।

इतने में जीने की किवाड़ें खुलीं और एक चिर-परिचित स्नेह-भरी पुकार सुनाई दी—'देवर जी!'

गोपीनाथ ने आगे बढ़कर भाभी के चरण छुये। हँस कर बोला—'खड़े-खड़े कमर टूट गई मेरी।'

भाभी बिस्तर पकड़ती बोलीं—'लाओ, मुझे दो। हाय दैया! जाने कब से खड़े थे! आओ, आओ...!'

पति वाला कमरा खोल दिया और गोपीनाथ का कोट खूँटी पर टाँगती हुई बोलीं—'भाई साहब तो तुम्हारे बाहर गये हैं।'

गोपीनाथ ने खेदपूर्वक पूछा—'कहाँ ?'

बोलीं—'कुसुम का ब्याह ठहराने गये हैं। किसी गाँव में कोई लड़का है। हरिप्रसाद जी अपने साथ ले गये हैं।'

गोपीनाथ ने सुनी-अनसुनी करके पूछा—'यह मुझ से बोल कौन रहा था ऊपर से ?'

तब भाभी ने तनिक मुस्कुरा कर कहा—'कुसुम थी। अकेली कैसे रहती घर में ? वे लोग सुबह तीन बजे वाली गाड़ी से लौटेंगे। कुछ बहुत जरूरी काम तो नहीं है न ?'

गोपीनाथ ने हँसने की चेष्टा करके कहा—'कुछ नहीं। मैं तो यों ही उतर पड़ा। शिकोहाबाद जा रहा था। सोचा, चलो, भाभी के दर्शन भी करता चलूँ।'

भाभी ने झूठी नाराजगी से कहा—'ऐसे ही अगर भाभी जी के भाग होते तो क्या कहने थे ? मैं वहाँ मायके से भागी आई माँ-बाप को छोड़ कर, यहाँ हुजूर नदारद !'

गोपीनाथ हो-हो करके हँसने लगा।

भाभी ने कहा—'तुम कपड़े बदलो, हाथ-मुँह धोओ। मैं दस मिनिट में तुम्हारे लिए खाना बना लेती हूँ।'

भाभी चल दीं बाहर को तो गोपीनाथ ऊँचे स्वर में बोला—'मैं खाऊँगा कुछ नहीं भाभी। सुनती हो न ?'

पर भाभी ने कुछ नहीं सुना।

—६—

कुसुम पूड़ियाँ निकाल रही थी। और भाभी अपने देवर को उस कमरे में खिला रही थीं। कसमें दे-दे कर पूड़ियाँ परोस रही थीं और

गोपीनाथ विवश होकर पूड़ी खा रहा था। तभी फिर किसी ने जीने की कुंडी खटखटाई।

भाभी ने अचरज से कहा—'हे भगवान्, अब यह कौन आया आधी रात को? कहीं कोई चोर-बदमाश तो नहीं है, कि धोखा देकर किवाड़ खुलवा ले?'

गोपीनाथ खाना रोक कर बोला—'तुम रुको भाभी। मैं देखता हूँ।' और छज्जे पर खड़े होकर डाँट के स्वर में उसने पूछा—'कौन है? कौन दरवाजा खुलवा रहा है?'

नीचे अँधेरे में से एक शान्त स्वर सुनाई दिया—'किवाड़ें खोलो आकर।'

'अपना नाम बतलाओ पहले'—गोपीनाथ ने डाँट कर कहा।

तब नीचे वाले ने कहा—'मेरा नाम गोपीनाथ है। बनारस का रहने वाला हूँ।······अबे, किवाड़ें खोल जल्दी!'

भाभी ने किवाड़ें जा खोलीं।

शिवराम ने ऊपर आते ही कहा—'कुसुम कहाँ है? हरिप्रसाद जी बाहर ताँगे पर हैं। भेजो उसे। अभी साथ ले जायँगे।'

भाभी अपनी सखी को बिदा करने गईं और शिवराम ने अपने कमरे में आ कर साथी की थाली देखकर कहा—'अरे पेटू, अभी कितना और खायेगा!'

भाभी नीचे की कुण्डी चढ़ा कर लौट आईं और अचरज से पति के चेहरे को देखती पूछने लगीं—'इतनी जल्दी लौट आये? ठहर गया ब्याह?'

शिवराम ने पलङ्ग पर टाँगें फैला कर कहा—'जी हाँ, ठहर गया!'

'लड़का कैसा है देखने-सुनने में?'

'जी, पूछिये मत! बस, कामदेव का अवतार है।'

गोपीनाथ बाहर से कुल्ला करके आया तो साथी को यों पलङ्ग पर फैले देखकर बोला—'जनाब, यह मेरा बिस्तर है।'

शिवराम ने दोनों हाथ दोनों ओर फैला कर कहा—'हजरते 'दाग़' जहाँ लेट गये लेट गये।'

हँस कर गोपीनाथ ने कहा—'चुप क्यों हो गये? दूसरा मिसरा कहो, 'जूतियाँ पड़ने लगीं ऐंठ गये, ऐंठ गये!''

'जी हाँ!'—शिवराम ने आँखें मूँदे हुए कहा—'बजा फरमाते हैं, हुजूर! लेकिन छड़ियाँ कहिये साहब, जूतियाँ नहीं!'

भाभी ने बाहर से ही फटकार लगाई। बोलीं—'और कोई बात नहीं रही कहने को? आते ही जूता-पैज़ार कहने बैठ गये। तुम आओ देवर! इनसे बात न करो। इस कदर दुष्ट हैं कि क्या कहूँ ······!'

बरामदे में खाट बिछी थी, जिस पर भाभी ने अपने हाथ की काढ़ी सुन्दर-सी बेलदार चादर बिछाई थी और तकिये पर भी नया गिलाफ चढ़ाया था।

गोपीनाथ लेट रहा उस खाट पर और क्षण भर को नयन मूँदे।

भाभी फिर आ गई और उसके पायँते कम्बल रख कर बोलीं—'सर्दी पड़ती है भोर की बेला। यह वही तुम्हारा वाला कम्बल है। छाता भी रक्खा है। लिये जाना और एक चीज और भी है, उसे भी लिये जाना अब।'

'और एक चीज क्या है भाभी?'

भाभी ने स्वर को धीमा करके कहा—'वे चूड़ियाँ रक्खी हैं तुम्हारी, जो तुमने कुसुम को दिलवाई थीं। अब जब सब-कुछ टूट-फूट ही गया तो वह अभागिन उन चूड़ियों को रखकर ही क्या करेगी?'

गोपीनाथ स्तब्ध होकर सुनता रहा।

भाभी साँस खींच कर बोलीं—'तुम्हारी वह चिट्ठी आई थी। इनकार

कर दिया था तुमने। तभी कुसुम मुझे ये चूड़ियाँ लौटा गई थी। रूमाल भी है तुम्हारा। लिये जाना तुम।'

गोपीनाथ ने भर्राये गले से कहा—'मैं क्या करूँगा चूड़ियों को ?'

भाभी ने दुखी स्वर में कहा – 'जो चाहो, सो करना। पर वह उन्हें अपने पास क्यों रक्खेगी ? सुन तो रहे हो, आज ही उसके भाई कहीं गाँव में उसका ब्याह ठहरा आये हैं। अब तुम्हारी दी हुई इन चूड़ियों को वह किस अधिकार से अपने पास रख सकेगी ? मेम साहब तो है नहीं। यूनिवर्सिटी की कोई ग्रेजुएट भी नहीं है कि मित्र का 'उपहार' बक्स में सुरक्षित रख ले। उसके आँसुओं और करुण क्रन्दन का कोई मूल्य न लगा तुम्हारे निकट। मेरी फरियाद और पुकार भी बेकार हो गई। अपने भाई साहब की बात भी न रक्खी। तब फिर और अब क्या कहना-सुनना बाकी रहा ? चूड़ियाँ तुम ले जाना अपनी।'

गोपीनाथ अवाक् रह गया।

भाभी आगे बढ़ती बोलीं—'अभी सोना मत। दूध गरम हो रहा है। दूध पिला दूँ तब सोना।'

—१०—

आधा घण्टा मुश्किल से बीता होगा कि भाभी ने दूध का गिलास गोपीनाथ के हाथों में देकर कहा कि 'बस सो जाओ पीकर। मैं जा रही हूँ अब।' और जाने लगीं।

गोपीनाथ ने आवाज दी—'भाभी !'

भाभी लौट आईं, और पूछने लगीं—'क्यों, क्या दूध फीका है ? चीनी और लाऊँ ?'

गोपीनाथ ने सिरहाने की जगह खाली करके कहा—'जरा बैठ जाओ। मुझे कुछ कहना है।'

भाभी अचरज करके बैठ गईं और गोपीनाथ का मुँह निहारती रहीं कि भगवान्, ऐसी क्या बात कहनी है ?

पर गोपीनाथ सिर झुकाये बैठा रहा।

हार कर भाभी ने कहा—'कहो न। चुप क्यों हो गये ? क्या बात कहनी थी ?'

गोपीनाथ ने जाने कैसी टोन में कहा—'भाभी !'

भाभी बोलीं—'हाँ।'

गोपीनाथ ने काँपती ज़ुबान से कहा—'भाभी, बात यह है कि······'

भाभी ने स्नेह से कहा—'कहो भी, क्या कहना चाह रहे हो ?'

गोपीनाथ ने सारा संकोच, सारी लज्जा, सारा भय तोड़ कर कहा—'भाभी मैं कुसुम से शादी करूँगा !'

× × ×

सुबह तड़के-तड़के पत्नी ने शिवराम को जगा कर कहा—'सुनते हो ? हरिप्रसादजी के यहाँ चले जाओ जरा।'

'क्यों चला जाऊँ जरा ?'

'कुसुम को बुला लाओ जरा। और हरिप्रसादजी से कहते आना कि आज यहीं खायें।'

शिवराम ने अँगड़ाई ले कर कहा—'न कुसुम आयेगी न हरिप्रसाद आयेगा। जाओ, काम देखो अपना।'

'क्यों न आयेंगे ?'

शिवराम ने आँखें फाड़ कर कहा—'वह आज बहुत रंज में होगा। शादी तो वहाँ ठहरी नहीं लौंडिया की। उलटे कहा-सुनी हो गई लड़के के बाप से। बड़ा जलील किया उसने हम लोगों को। ये साले लड़के वाले इस कदर नीच होते हैं कि······'

पत्नी ने प्रसन्न मुद्रा से कहा—'तो तुम फौरन चले जाओ उनके पास। अभी साथ लेकर आओ दोनों भाई-बहिन को। मैंने एक लड़का तलाश किया है। सब तय कर लिया है मैंने। अरे, तुम उठो भी तो।

सुनते क्यों नहीं ? जाओ, कुसुम को बुला लाओ। मुझे दावत करनी है सब की।'

शिवराम ने खड़े होकर कहा—'क्या कहूँ उनसे जाकर ? कहूँ कि मेरे यहाँ 'पुत्रोत्सव' है ?'

पत्नी ने धक्का देकर कहा—'जाओ!' और शरमा कर भाग गई।

—११—

गोपीनाथ बाहर के छज्जे पर खड़ा आकाश को निहार रहा था। एक किनारे से बादल उठ रहे थे भूरे-भूरे। बिजली चमक जाती थी रुक-रुक कर। कितना सुहावना लग रहा था कि भाभी ने पीछे से मुस्कुराते हुए आकर हाथ पकड़ लिया और उसे भीतर की ओर खींचती बोलीं—'यहाँ आओ।'

गोपीनाथ चुपचाप चला आया। भाभी के कमरे में एक कुरसी पड़ी थी। वहाँ तक हाथ पकड़े लाईं और बोलीं—'यहाँ बैठो।'

गोपीनाथ चुपचाप बैठ गया। फिर इसी प्रकार कुसुम को खींच कर लाईं और उसे गोपीनाथ के पैरों के पास जमीन पर बिठाकर देवर से बोलीं— 'ये लो अपनी चूड़ियाँ। आज अपने हाथ से इसे पहिना दो।'

गोपीनाथ उठने लगा। भाभी ने उसे रोक कर कहा—'तुम्हें मेरे सिर की कसम देवर!' और जमीन को एकटक देखती कुसुम की गोरी कलाई ऊपर को करके बोलीं—'एक ही चूड़ी पहना दो लल्ला, तुम्हें मेरे सिर की कसम! तुम मेरा मरा मुँह देखो······'

कुसुम ने अपना सिर जमीन पर गड़ा दिया।

गोपीनाथ ने काँपती अँगुलियों से किसी प्रकार कुसुम की कलाई में चूड़ी पहिना दी और पसीने से तर अपना रक्तिम मुख ऊपर करके हँसकर भाभी से कहा—'बस ?' और उठने लगा कुरसी से।

भाभी ने कहा—'बैठो-बैठो!' और नीचे जमीन में समा जाने की चेष्टा करने वाली अपनी सखी से कहा—'चरण छू लो!'

कुसुम अचल रही।

भाभी ने कहा—'चरण-रज ले लो सखी! देवता का अपमान न करो!'

कुसुम ने अपना सिर गोपीनाथ के चरणों पर रख दिया।

गोपीनाथ ने कातर होकर पुकारा—'भाभी!'

भाभी की आँखों में आँसू भरे थे। काँपते ओंठों से बोलीं—'और क्या है उसके पास? अपने देवता के चरणों में और क्या चढ़ाकर पूजा करे भिखारिन?'

तभी शिवराम ने आँगन में आवाज दी—'अरे, कहाँ गईं जी? लो, यह दही रक्खो।'

गंगा

प्रांगण में वेणु बज रही थी। भगवान् की चरण-पादुकाओं के निकट बैठी गंगा का ध्यान भंग होने लगा। वृद्ध पुजारी के ओंठों पर मुसकान थी। सौ बत्तियों वाले आरतीदान की शीतल, उज्ज्वल प्रकाश गंगा के प्रशान्त, सौम्य मुख पर प्रतिबिम्बित हो उठा। भक्ति और श्रद्धा से प्रसाधित फूलों की माला गंगा ने पुजारी की ओर बढ़ा दी और आँखें झुका कर पूछा—'बाबा, कौन बाँसुरी बजा रहा है ?'

वेणु बजती रही। गंगा के हृदय में सिहरन होने लगी। पुजारी आनन्द-मग्न हो वह तान सुन रहे थे। गंगा के आलोकोज्ज्वल मुख को वात्सल्य से निहार कर बोले, ओंठों में मुसकान लिये—'एक संन्यासी आज आया है। कैसा करुण स्वर है बेटी !'

माला वह भगवान के कंठ में पहिना दी और फिर पुजारी ने नयन मूँद लिये और भावों में डूब गये। विरह की रागिनी चारों ओर आँसुओ की वर्षा कर रही थी। वृद्ध पुजारी का तन-मन मानो उसी वर्षा से भीग उठा। मानो भगवान के श्रीचरणों में अजस्र अश्रु-वर्षण प्रवाहित होने लगा।

सहसा वेणु रुक गई। पुजारी ने चौंक कर पलक उघारे और तभी प्रांगण के किनारे से एक शान्त स्वर सुनाई दिया—'बाबा यहाँ आओ।'

क्या हुआ ? विस्मय से भरे पुजारी उठ कर आये। स्तम्भ के सहारे संन्यासी उदास खड़ा था और उसके चरणों के निकट गंगा बेसुध पड़ी थी धरती पर।

—२—

शादी को कुल छः महीने हुए थे। ससुराल में प्रथम बार गंगा की

दिवाली हो रही थी। उछाह और उमंगों में डूबी वह लक्ष्मी जी का पूजा-थाल सजा रही थी। ज़िन्दगी का सत्रहवाँ साल, सत्रहवीं दिवाली, दिवाली का सत्रहवाँ लक्ष्मी-पूजन आज बाप के घर नहीं पति के घर देखेगी।

'अटल-अचल होकर इस देहली पर विराजो, माँ! धन-धान्य से यह घर पूर्ण करो मातेश्वरी! मेरे माथे का सिन्दूर चमकता रहे! तुम्हारी प्रति दिन पूजा करूँगी। तुम्हारी जय हो लक्ष्मी!' फिर गंगा ने एक बार प्रतिमा की ओर देख कर भक्ति से विह्वल होकर मन्द स्वर में कहा—'तुम्हारी जय हो!'

तभी पैरों की आवाज करके कृष्णचन्द्र ने उसे चौंका दिया। गंगा ने दबी नजरों से युवा पति की मुख-श्री देखी और मुस्कुरा कर बोली हौले से—'पूजन की बेला आ गई। अम्माँ नाराज हो रही हैं।'

कृष्णचन्द्र स्थिर खड़ा था।

गंगा ने पल भर प्रतीक्षा करके मधुर स्वर में कहा—'बैठो! लो, यह माला तो उलझ गई।'

कृष्णचन्द्र ने खड़े-खड़े कहा—'अपने बक्स की चाभी मुझे दो तो।'

गंगा ने धीरे से कहा—'चाभी क्या मेरे पास है? चाभियों का गुच्छा तो अम्माँ अपने सिरहाने रखती हैं।'

कृष्णचन्द्र ने रूखे स्वर में कहा—'जरा माँग लाओ उनसे।'

गंगा डरती-डरती बोली—'कारण पूछेंगी तो क्या कहूँगी?'

'क्या कहेगी?'—कृष्णचन्द्र ने क्रुद्ध कर कहा और वह अम्माँ के पास झपट कर चला।

जुएँ में अपनी सब पूँजी हार कर अब वह पत्नी के आभूषण लेने आया था। अम्माँ सब जानती थीं। अम्माँ ने सब समझ लिया।

पलक मारते कृष्णचन्द्र फिर यहाँ लौट आया। गंगा शिथिल हाथों से माला सुलझा रही थी। कृष्णचन्द्र ने कड़क कर कहा—'चाभी तेरे पास है। अम्माँ के पास नहीं है। कहाँ है चाभी?'

गंगा ने कंपित स्वर में कहा—'सच कहती हूँ......'

'सच कहती है !'—कृष्णचन्द्र ने स्वर को तीव्र करके कहा—'मुझे उल्लू बनाती है ? निकाल चाभी !'

थर-थर काँपती गंगा ने कहा—'मेरे पास चाभी नहीं है, तुम्हारे सिर की कसम !'

कृष्णचन्द्र ने लम्बी साँस खींची। उसका स्वर जाने कैसा हो गया था। पत्नी के अवनत मुख की ओर निहारता बोला—'तू इतनी नीच है, मैं नहीं जानता था। तुझे अपने जेवर मेरी इज्जत से ज्यादा, मेरी जान से भी ज़्यादा प्यारे हैं ? किस क़दर धोखे में था। आज़ आँखें खुल गईं। मैं तो जा रहा हूँ, तू अब इन जेवरों को लेकर ही रह। जिन्दगी भर तेरा मुँह न देखूँगा राक्षसी !' और वह शीघ्रता से मुँह फेर कर चल दिया !

क्षण भर गंगा बेसुध रही। फिर जैसे चोट खाकर, उसकी चेतना जागी। अपनी सोने की चूड़ियाँ कलाई से खींचती, दरवाजे की ओर दौड़ी आई। कृष्णचन्द्र तब तक चौखट से उतर गया था। गंगा ने चौखट पर रुक कर, कातर स्वर में पुकारा—'सुनो तो !'

पर कृष्णचन्द्र ने न सुना। सोने की चूड़ियाँ हाथ में लिए चौखट पर खड़ी गंगा कातर स्वर में पुकारती रही—सुनो तो !'

कृष्णचन्द्र ने न सुना।

—३—

पूजा की थाली में माला उलझी पड़ी रही। दिये की बाती बुझ गई। घर में अँधेरा छा गया। पर कृष्णचन्द्र न लौटा।

दूसरे दिन शाम को पता चला कि कृष्णचन्द्र ने पूरब जाने वाली गाड़ी का टिकिट लिया था। दो दिन निराहार रह कर दोनों सास-पतोहू गंगा-जमुना बहाती रहीं। फिर एक दूसरी के आँसू पोंछ कर, एक दूसरी को ढाढ़स बँधा कर सान्त्वना देकर शान्त हो रही दोनों। तब से हर एक दिन

और हर घड़ी गंगा आँखें फाड़े पति की प्रतीक्षा करती रही। पर कृष्णचंद्र न लौटा।

दिये की बाती बुझ गई। घर में अँधेरा छा गया।

ये पन्द्रह साल पहिले की बातें हैं। गंगा ने अपना कलेजा पत्थर का कर लिया। अम्माँ से न सहा गया। लड़का उनकी आँखों से अदृश्य हो गया तो एक दिन अम्माँ इस दुनिया की आँखों से अदृश्य हो गई। बेटे का मुख देखने की लालसा में पलक खुले रह गये। प्राणों का पंछी उड़ चला अज्ञात दिशा की ओर बेटे के लिए।

ससुराल सूनी, मायका सूना। बाप तो गंगा का ब्याह करके जीवन से विरक्त हो गये थे और कहीं दूर गुरु महाराज के चरणों में विश्रान्ति ले ली थी। गंगा की दुख-गाथा शायद सुन पाये, शायद नहीं सुन पाये! अब तो कोई नहीं है। पत्थर का कलेजा लिये गंगा जीवित है। किस लिए?

किस लिए उसे जीवित रहना है?

छोटा-सा कस्बा है। बस्ती से सटी-सटी गंगा मैय्या बहती हैं। वहाँ राह के दोनों ओर फूस के झोपड़े हैं। इन झोपड़ों में अपावन, घृणित कोढ़ी अपना अभिशप्त जीवन बिताते हैं। इस छोर पर भगवान मुरली-मनोहर का भव्य मन्दिर है, जिसके घंटे की पवित्र ध्वनि गंगा के उस किनारे तक प्रातः-सायं नित्य गूँजती है, जिसकी सीढ़ियों की धूलि मस्तक पर लगाने से मन का सारा कल्मष मिटता है, सन्ताप मिटता है।

कब से उसकी यह जीवन-चर्या बन गई, गंगा को अब याद नहीं। केवल इतना याद रह गया है कि एक दिन वह गंगा नहाकर लौट रही थी। एक पंगु कोढ़ी झोपड़ी के बाहर आग सुलगा कर रोटी सेंकने का प्रयत्न कर रहा था। अँगुलियों से रहित केवल हथेली से बार-बार जलती लकड़ी को पकड़ने की कोशिश करता और बार-बार लकड़ी गिर पड़ती और हथेली जल जाती। गंगा के पैर रुक गये। देखती रही, देखती रही।

करुणा से मन भीग गया। फिर और सहा नहीं गया उससे। गंगाजली और पूजा की चँगेरी वहीं एक ओर घास पर रख कर उस दुखिया के पास आ बैठी और दया भरे, ममता-भरे कंठ से बोली—'लाओ, बाबा, मैं तुम्हारी रोटी सेंक दूँ।'

शायद बहुत विलम्ब हो गया। पुजारी गंगा की ओर देख कर हँसने लगे तो वह लज्जा से संकुचित होकर बोली—'मुझ से आज अपराध हो गया है। क्षमा करोगे बाबा!' फिर उसने कोढ़ी की कहानी सुनाई। और फिर उसी करुणा-द्रवित स्वर में पूछने लगी—'यह माला क्या अब भगवान को चढ़ाओगे बाबा?'

वृद्ध पुजारी मौन होकर सुन रहे थे। अब मुख खोला। गद्‌गद् होकर कहा—'बेटी, भगवान् तो पतितपावन हैं। तुम्हारी यह माला धारण करके आज मुरली मनोहर भी अपने को कृतार्थ कहेंगे! लाओ माला मुझे दो।'

पुजारी ने वह माला माथे से लगा ली।

आँखों में आँसू भर आये। आँसू बहाती बोली—'मुझ पापिनी को क्षमा करेंगे भगवान्?'

पुजारी ने माला भगवान के कंठ में पहिना दी। फिर गंगा के सिर पर काँपता हाथ रख कर, भरे गले से कहा—'बेटी, ऐसी बात न कहो। भगवान के हृदय को कष्ट होगा लाड़ली!'

गंगा ने अपना आँसुओं से भीगा मुख पुजारी के चरणों में छिपा लिया।

—४—

कोढ़ियों की कुल संख्या बीस थी। गंगा नहाने वाली स्त्रियाँ और भक्त जन जब-तब उनके आगे पैसा-धेला और अन्न के दाने डाल जाते। तनिक फासले पर किसी रईस की धर्मशाला थी। यहाँ से प्रतिदिन इन कोढ़ियों को थोड़ा-सा अन्न मिलता था। कैसे क्या करके जीवित रहते थे, पता नहीं

पर अब उन को बहुत बड़ा सहारा मिल गया था। बीसों कोढ़ी प्रतिदिन 'गंगा मैय्या' की बनाई रोटी खाते थे।

दोपहर को उनकी आँखें राह में बिछी रहतीं। दूर से गंगा मैय्या की सफेद धोती दीखती और कोढ़ी एक साथ चिल्लाते—'मैय्या आ गई! मैय्या आ गई! गंगा मैय्या की जय!"

गगा का धूप में तमतमाया चेहरा कि जिस पर पसीने की बूँदें छायी रहतीं, कोढ़ियों का 'मैय्या' शब्द सुन कर आनन्द से उज्ज्वल हो उठता। वह क्रमशः कोढ़ियों को रोटी-दाल बाँटती और हर कोढ़ी के आगे आकर कहती—'देर हो गई। भुखा गये होगे?'

'नहीं, मैय्या!' कोढ़ी कहते।

मैय्या! गंगा विह्वल होकर हँस कर, कहती—'मुझे गाली दे रहे थे, मन ही मन कोस रहे थे न?"

"'नहीं मैय्या?' कोढ़ी कातर होकर कहते।

मैय्या!—गंगा विह्वल होकर हँस कर कहती—'दो न गाली! मैं क्या तुम से नाराज होऊँगी! खाने को देर हो जाती है, तो सभी लड़के अपनी माँ को गाली देते हैं। मैं तो बीस बेटों की माँ हूँ। तुम दो न गाली!'

तब हर कोढ़ी अपना अपावन मस्तक वहीं जमीन पर रख कर मैय्या को प्रणाम करता।

बीसों कोढ़ी किनारे-किनारे एक साथ बैठ कर खाना खाते। गंगा खड़ी-खड़ी देखती। धूप से उसका मुख लाल रहता कि जिस पर पसीने की बूँदें छाई रहतीं और ओंठों पर आनन्द की मुसकान खिली रहती...।

पुजारी बैठे प्रतीक्षा करते रहते। गंगा आकर भगवान का चरणामृत लेती।

वृद्ध हँसकर पूछते—'खा लिया तुम्हारे बेटों ने?'

'खा लिया।' गंगा हँसकर, कहती।

पुजारी सिर हिला कर, कहते—'यहाँ बूढ़ा बाप चाहे भूखों मर जाय ! क्यों ?'

गंगा गद्‌गद् होकर कहती—'बाप बेटी को इतना प्यार क्यों करते हैं ?'

वृद्ध पुजारी सिर हिलाकर कहते—'बेटी बहुत दुष्ट है, इसलिए !'

'बाबा, तुमने मेरा जीवन सार्थक कर दिया ।'—गंगा आँखों में आँसू लाकर, कहती ।

पुजारी नयन मूँद लेते । नयन मूँदे कहते—'ऐसा न कहो बेटी ! तुम्हें तो मैं गुरु मानता हूँ । मेरे जीवन में उजाला न था । तुमसे मैंने प्रकाश पाया । नारायण की यह प्रतिमा इतने दिनों से प्राणहीन थी । पत्थर पूज रहा था कब से । तुम्हीं ने प्राण-प्रतिष्ठा की है मुरली-मनोहर की । मैंने प्रतिदिन लक्षित किया है कि तुम जब कोढ़ियों को भोजन कराके आती हो तो मुरली-मनोहर के अधरों पर मुसकान आ जाती है । सच, बेटी !'

गंगा आँसू बहा कर, सिर हिलाकर कहती—'ऐसा न कहो, पिता मुझ पापिनी को ऐसा न कहो !'

पर पुजारी न सुनते । नयन मूँदे कहते, भरे गले से—'तू धन्य है, बेटी ! तुझे पाकर मैं धन्य हूँ, नारायण धन्य हैं......।'

'बस यही दिनचर्या बन गई थी गंगा की । रूखा-सूखा खाती । खाकर बच्चों के कपड़े सीने बैठ जाती । कस्बे में सैकड़ों बच्चे उसके बनाये कपड़े पहनते थे । हर नवजात शिशु को जीवन में प्रथम बार जो वस्त्र पहनाया जाता, वह गंगा का बनाया होता । उस वस्त्र का वह पैसा भी न लेती । सन्तानवती माताएँ अपने-अपने पुत्रों को गंगा के चरणों में झुकाकर कहती—'आशीर्वाद दो माँ ! तुम सती हो । तुम्हारे आशीर्वाद से इसका अमंगल कटेगा ।'

गंगा बच्चे को कलेजे से लगा लेती । विह्वल होकर; कहती—'अमर

होओ लाल ! सपूत मेरे, तुम्हारी जयजयकार हो। देश का मुख उजला करो !'

और एक काम था, भगवान् के लिए माला गूँथने का। अपने घर में ही फूलों के पौधे लगा लिये थे। उन में जल सींचती। रात को भगवान की आरती देखने जाती और चरणामृत पीकर सो रहती, गुड़ी-मुड़ी होकर। सुबह तड़के उठती तो कोढ़ियों का अनाज पीसती। उस समय एक गीत फूट पड़ता हृदय से। और चक्की की घर्र-घर्र के बीच उसकी लय डूबी रहती। हौले-हौले नीचे आटा गिरता जाता और हौले-हौले गंगा गाती जाती—'छोड़ि गये निर्मोही······'

—५—

अर्ध-रात्रि में गंगा ने मानो गहरी नींद से जगकर पलक उघारे और दुर्बल स्वर में पूछा—'मैं कहाँ हूँ ?'

पुजारी ने उसके मुख पर झुककर स्नेहार्द्र स्वर में कहा—'तुम यहाँ, मेरी कोठरी में हो बेटी ! अब तबीयत कैसी है तुम्हारी ?'

'मुझे गश आ गया था ?' गंगा ने याद करके पूछा।

'हाँ, बेटी, तुम बेहोश हो गई थी आँगन में।'

सहसा गंगा उठकर बैठ गई। फिर चारों ओर दृष्टि दौड़ाकर भीत स्वर में बोली—'वे कहाँ हैं ?'

'कौन, बेटी ?'

'वे कहाँ हैं ?'—गंगा ने काँपती ज़ुबान से कहा—'चले गये क्या ? पन्द्रह साल के बाद......'

पुजारी ने अचंभे में डूबकर पूछा—'वह संन्यासी कृष्णचंद्र है क्या ?'

'हाँ बाबा,' गंगा ने धीरे से कहा और बिस्तर पर लुढ़क गई। मुख छिपा लिया दोनों हाथों से। क्रन्दन फूट उठा और सम्पूर्ण देही काँपने लगी।

पुजारी बाहर को भागे।

संन्यासी बरामदे से उतर कर नीचे आँगन में खड़ा था। कमण्डल

उठाकर जाने को उद्यत था कि पुजारी ने हाँफते हुये आकर पीछे से उसकी बाँह पकड़ ली। सन्यासी ने मुड़कर देखा। उसकी दृष्टि शान्त थी। पुजारी ने उसकी आँखों में अपनी आँखें डालकर कंपित स्वर में कहा—'जा रहे हो?'

'हाँ बाबा'—संन्यासी ने गम्भीर स्वर में कहा।

वृद्ध पुजारी ने दोनों हाथों से उसकी बाँह कस ली और स्वर को दृढ़ करके बोले—'नहीं जाने दूँगा!'

'क्यों, बाबा?'—संन्यासी शान्त खड़ा था।

पुजारी दर्द-भरी वाणी से बोले—'इतने निर्दय न होओ बेटा! उस दुःखिनी पर तरस खाओ! दया करो कृष्णचंद्र! अब और जुल्म न करो!'

संन्यासी शान्त खड़ा था।

वृद्ध पुजारी आँखों में आँसू लाकर कहने लगे—'किस बात के लिए तुम उसे इतनी भारी सजा दे रहे हो? अभागिनी किसी तरह अपना दुख बिसार कर, दुखियों की सेवा करके भगवान के चरणों में जीवन अर्पित करके दिन बिता रही थी। पन्द्रह साल हो गये। पन्द्रह साल से कष्ट पा रही है। पन्द्रह साल से तुम्हारी राह में आँखें बिछाये बैठी है। और तुम हो कि उसे एक झलक दिखाकर उसका घाव ताजा करके चले जा रहे हो? तब फिर तुम क्यों यहाँ आये थे, निष्ठुर संन्यासी?'

संन्यासी ने एक शब्द न कहा। स्थिर, शान्त खड़ा रहा।

पुजारी ने विनय करके कहा—'न जाओ बेटा, मैं तुम से बिनती करता हूँ। गंगा बेटी पर अब और जुल्म न ढाओ। मैं वृद्ध ब्राह्मण तुम से दया की भीख माँग रहा हूँ। न मानोगे, तो मैं तुम्हारे चरणों में अपना सिर रख दूँगा कृष्णचन्द्र, यहीं तुम्हारे चरणों में यह सिर पटक कर जान दे दूँगा! सुनते हो?'—वृद्ध ने थर-थर काँप कर कहा—'जान दे दूँगा! तुम ब्राह्मण की हत्या करके ही आगे कदम बढ़ा सकोगे!'

संन्यासी ने शान्त भाव से अपना कमण्डल नीचे रख दिया। फिर

संयत स्वर में बोला—'कहिये, मुझे क्या करना होगा ? मैं नहीं जाऊँगा। आप शान्त होइये बाबा।'

वृद्ध ने अपनी आँखें पोंछीं, फिर उस संन्यासी को धक्-धक् होती छाती से लगाकर बोले—'जुग-जुग जियो बेटा! चलो, बेटी को सुख में डुबो दो।'

—६—

सारी बस्ती में चर्चा थी कि पन्द्रह साल के बाद गंगा का पति कृष्णचन्द्र लौट आया है। कितने ही परिचित-अपरिचित लोग उसे आकर मन्दिर में देख गये। कृष्णचन्द्र केवल सब की ओर निहार कर तनिक मुस्कुरा देता।

लोगों ने कहा—'पन्द्रह साल तक संन्यासी रहकर अब वह हम लोगों जैसा कैसे रहेगा ? उसका मन और तरह का हो चुका है। हम लोगों से कितना कम बोला। न बोले, भाई। अपनी पत्नी पर तो दया की है। बेचारी सती स्त्री कितना दुख उठा रही थी। अरे, वह तो देवी है। भगवान ने वरदान की तरह कृष्णचन्द्र को उसके पास लौटा दिया है, नहीं तो क्या आशा थी कि वह यों अचानक हम लोगों के बीच आ जायगा ?'

पर पुजारी के हर्ष की सीमा न थी। सारा दिन कृष्णचन्द्र का प्रबन्ध करते बीत जाता। मन-ही-मन जैसे गंगा को पुकार कर कहते कि 'तू अपनी देखने की हविस मिटा। पन्द्रह साल तक जिसे एक नज़र देख नहीं पाई, उसे अब जी भर कर देख ले। पहले तू देख ले तब और किसी को देखने दूँगा। मेरी बिटिया का सारा दुःख-शोक मुरली-मनोहर ने हर लिया। तुम धन्य हो मुरली-बजैया!' और भगवान की ओर बार-बार सजल नयनों से निहार कर कहते, 'वह उस दिन तुम्हारी ही बाँसुरी बजी थी नारायण! कृष्णचन्द्र ने नहीं, तुम्हीं ने वह करुण रागिनी बजाई थी। अरे छलिया, अरे रसिया......'

बाँसुरी तो कृष्णचन्द्र पहले भी बजाता था। यह इतनी दर्दभरी लय जाने कब निकाल ली।

'संन्यासी होकर भी बाँसुरी बजाना न छोड़ पाये!'—गंगा ने मधुर हँसी हँस कर कहा—'बाँसुरी न बजाते तो मैं क्या फिर से तुम्हें यों पा सकती थी।'

कृष्णचन्द्र के अब जटाएँ न थीं। सभ्य नागरिक-जैसे कपड़े पहने पलंग पर लेटा था। गंगा ने बाँसुरी ताक पर से उठा ली और उसे पास रखकर लजाकर कहा—'जरा बाँसुरी बजाओ।'

कृष्णचन्द्र ने बाँसुरी उठा ली। फिर उसके छिद्रों पर अँगुलियाँ रखकर हँस कर पूछा—'क्या बजाऊँ?'

गंगा वहीं पाटी पर बैठ गई। लजाकर ओंठों में मुस्कान दबा कर कहा—'वही, उस दिन वाली रागिनी।'

कृष्णचन्द्र ने एक बार गंगा के सलज्ज-मुख की ओर निहारा और धीरे से हँस कर कहा—'पर कहीं बेहोश हो जाओ, तो?'

गंगा ने लाज में डूब कर कहा ओठों में मुस्कान दबा कर—'बेहोश हो जाऊँ तो बाबा को मत बुलाना।'

तभी बाहर से बाबा ने पुकार लगाई—'गंगा बेटी!' और दरवाजे पर खड़ाऊँ की आवाज करके बोले—'कृष्णचन्द्र कहाँ है? उसका कोई मित्र आया है, हीरालाल। बड़ी देर से बैठा है......।'

हीरालाल आलिङ्गन करके कृष्णचन्द्र से मिला। फिर कस कर उसका हाथ पकड़ कर प्रेम से बोला—'आखिर हम लोगों की सुधि आ ही गई तुम्हें!'

कृष्णचन्द्र खड़ा हँसता रहा।

हीरालाल उसे पास बिठाकर बातें करने लगा। हाथ यों ही पकड़े था। अचानक उसे जाने क्या ध्यान आया और कृष्णचन्द्र का बायाँ हाथ ऊपर को उठाकर लौट-पौट कर देखने लगा। पुजारी किसी काम से उधर

से जा रहे थे। उसे यों करता देख हँस कर पूछने लगे—'क्या देख रहे हो भाई ? जान पड़ता है कि हस्त-रेखाएँ पढ़ रहे हो।'

हीरालाल ने तनिक हँस कर कहा—'पुजारी बाबा, अचरज कर रहा हूँ। यह कृष्णचन्द्र तो मेरा लँगोटिया यार है। इसका यह अँगूठा देख रहा हूँ।' फिर क्षण भर रुक कर हँस कर बोला अँगूठे को निहारता—'यह आधा था। बचपन में इसका ऑपरेशन हुआ था। डाक्टर ने आधा अँगूठा काट दिया था इसका। पर यह देखो, पूरा का पूरा है ! नाखून भी है अब। और तो जो कुछ सीखा होगा सो सीखा होगा, पर योग-विद्या से अँगूठा अपना पूरा कर लाया। मुझे तो यही सन्तोष है। आधा था तो बुरा लगता था महाराज !'

कृष्णचन्द्र बैठा मुस्कुराता रहा।

पुजारी ने भी रुक-रुक कर कहा—'योग से क्या नहीं हो सकता भाई ? अँगूठा ठीक होना क्या, मरा प्राणी जीवित हो जाय।'

—७—

कितने दिनों से, कितने सालों से भगवान प्रतिदिन दोनों बेला गंगा की बनाई माला धारण करते थे। वह क्रम अब अचानक टूट गया। पुजारी मन ही मन हँसे और प्रतिमा की ओर एक नज़र देखकर बोले—'तुम भी हँस रहे हो न ?' और मन ही मन हँसते माली के घर गये। उससे एक सुन्दर-सी माला खरीदी और गंगा के किनारे आचमन करने जा पहुँचे। उधर से लौटे तो कोढ़ियों के झोंपड़े बीच में पड़े। कोई भी कोढ़ी बाहर न था। पुजारी उन झोपड़ों को निहारते मन ही मन कोढ़ियों से बोले—'तुम्हारी गंगा मैया का स्वामी लौट आया है। उसका सिन्दूर अचल हो ! तुम लोग खुशी मनाओ। शायद तुम लोगों की रोटी सेंकने नहीं आई। उस पर नाराज़ न होना अभागो। पन्द्रह साल के बाद उसका सुहाग फिरा है। सुनो अनाथ भाइयो, नाराज़ न होंना उस पर। मैं नाराज़ नहीं हूँ, माला न पाकर नारायण भी नाराज़ नहीं हैं उससे।

हाँ भाई, उसे क्षमा करना, बेटी को क्षमा करना, अपनी मैया को क्षमा करना !

मन्दिर की परिक्रमा करके तोरण के किनारे चढ़ रहे थे कि मूलचन्द जुआड़ी पर नज़र जा पड़ी।

वह उधर खड़ा मुस्कुरा रहा था। पुजारी जी को देखकर दोनों हाथ उठा कर 'पालागन' करके बोला—'कृष्णचन्द्र से मिलने आया हूँ।'

पुजारी जी ने रुक-रुक कर कहा—'वह यहाँ नहीं है। तुम क्या करोगे उससे मिलकर ?'

मूलचन्द हँसकर बोला—'क्या करूँगा ? अरे महाराज, वह मेरा दोस्त है। दोस्त से न मिलूँ ?'

पुजारी ने रुक-रुक कर कहा—'तुम्हारी संगत में पड़कर एक बार उसकी वैसी दशा हो चुकी है। अब क्या फिर उसे उसी कुमार्ग पर ले जाना चाहते हो ?'

मूलचन्द ताली पीट कर ठहाका मार कर हँस पड़ा। हँसता-हँसता बोला—'महाराज, मैं तो गंगाजली छूकर जुआ छोड़ चुका हूँ। आपको इतना भी पता नहीं ? बहुत दिनों से रुई-बिनौले का व्यापार करता हूँ।'

पुजारी जैसे तनिक आश्वस्त हुए। स्वर को नम्र करके कहा—'कृष्णचन्द्र आता ही होगा।'

इधर कृष्णचन्द्र ने आलमारी पर छड़ी मार कर गंगा को चौंका दिया। कब से यहाँ कोठरी में खड़ी-खड़ी माला गूँथ रही थी। पति को सामने पाकर उसने अंचल में माला छिपा ली।

कृष्णचन्द्र सामने आकर हँसकर पूछने लगा—'क्या है ?'

'कुछ नहीं।'—गंगा ने शरमा कर कहा।

'कुछ छिपाया है ?'

'कुछ नहीं।'—मुस्कुराकर कहा।

कृष्णाचन्द्र ने हँसकर कहा—'मत बतलाओ। पर मैं छीन थोड़े ही लूँगा?'

तब गंगा ने धीरे-धीरे दोनों हाथ साड़ी से बाहर किये और मुट्ठियाँ खोलती-खोलती लजाकर बोली—'माला बना रही थी।' और माला ऊपर को करके बोली—'लो, उलझ भी गई!'

'कृष्णाचन्द्र ने उधर ध्यान न देकर कहा—'हम भी एक चीज लाये हैं।'

'क्या?' गंगा ने उत्सुक हो कर पूछा।

कृष्णाचन्द्र दोनों हाथों की मुट्ठी बाँध कर बोला—'नहीं बतलायेंगे।'

गंगा ने तनिक उदास होकर कहा—'न बताओ।'

कृष्णाचन्द्र ने हँस कर कहा—'हाथ फैलाओ और आँखें मूँदो।'

गंगा ने वैसा ही किया और ओठों से मुस्कुराती रही।

कृष्णाचन्द्र ने उसकी आँखों की ओर देख कर कहा—'देखना मत, देखना मत!' और उसकी फैली हथेली पर एक छोटी-सी सुन्दर डिब्बी रख दी और खुद पलंग पर जा लेटा जल्दी से और उधर को करवट लेकर कहा—'अब खोल लो आँखें।'

गंगा ने आँखें खोलीं और डिब्बी देखी। उसका ढक्कन हटाया सँभाल कर और बेसुध-सी हो गई हर्ष से। डिब्बी में सुगन्धित लाल सिन्दूर था।

कृष्णाचन्द्र इधर को करवट लिये आँखें मूँदे पड़ा था। गंगा वहीं उसके आगे जमीन पर आ बैठी और हौले से कहा—'सो रहे हो क्या?'

कृष्णाचन्द्र ने हँसकर पलकें उघारीं।

गंगा ने डिब्बी आगे करके लजा कर कहा हौले से—'लो, लगा दो अपने हाथ से मेरे माथे पर।'

हँसता हुआ कृष्णाचन्द्र उठ कर बैठने लगा तो बायें हाथ पर कपड़ा लिपटा देख गंगा चौंक पड़ी। घबरा कर उसने पूछा—'क्या हुआ हाथ में?'

कृष्णचन्द्र हँसकर बोला—'कुछ नहीं, जरा चोट लग गई है यों ही।'

तभी किसी ने बन्द किवाड़ों पर धक्का दिया। गंगा दरवाजा खोलने दौड़ी। और कृष्णचन्द्र उठकर खड़ा हो गया, बायें हाथ पर कपड़ा लपेटे।

और कोई नहीं, पुजारी बाबा थे! उदास दृष्टि से कृष्णचन्द्र की ओर ताक कर बोले—'तुम कृष्णचन्द्र हो न?'

कृष्णचन्द्र ने आश्चर्य से कहा—'हाँ, क्या हुआ बाबा?'

बाबा ने शान्त स्वर में कहा—'मेरे साथ आओ।'

—८—

मन्दिर के उसी विशाल प्रांगण में खड़े कृष्णचन्द्र से मुखातिब होकर मूलचन्द पूछने लगा—'मेरे कितने रुपये तुम पर बाकी रह गये थे, कुछ याद है?'

हीरालाल ने आगे आकर पूछा—'दिवाली का वह जुआ कहाँ हुआ था, बतला सकते हो?'

मूलचन्द ने कहा—'औरत से लड़कर जब तुम घर से निकले तो पहले मेरे पास आये थे या इस हीरालाल के पास?'

हीरालाल ने पूछा—'और आज तुम जर्राह की दूकान पर क्यों गए थे?'

मूलचन्द ने पूछा—'क्या तुमने जर्राह से घाव भरने का मलहम माँगा था?'

हीरालाल ने नजदीक आकर कहा—'देखूँ तुम्हारा हाथ।' और उसने कृष्णचन्द्र का बायाँ हाथ पकड़कर ऊपर को किया। फिर स्वयं ही उस कपड़े को हटाकर उसने अँगूठे की पट्टी खोल कर फेंक दी। आधे कटे अँगूठे पर मरहम का पीला फाहा चिपका हुआ था।

पुजारी साँस रोके खड़े थे। हीरालाल ने उस हाथ को पुजारी के

आगे करके कहा—'महाराज, देखिये, आपने उस बेला इस अँगूठे को पूरा देखा था न ?'

कृष्णचन्द्र ने एक शब्द भी न कहा। पुजारी के पैर काँपने लगे।

मूलचन्द ने कहा—'तुम कौन हो भाई और क्यों इस तरह हम लोगों को धोखा देना चाहते थे ? क्यों गंगा जैसी सती स्त्री का जीवन बरबाद करने पर उतारू हुए हो तुम ? सच कहो, तुम जीवनराम के लड़के कृष्णचन्द्र ही हो या और कोई बने हुए लुच्चे-बदमाश हो ?'

कृष्णचन्द्र अवाक् था। पुजारी थर-थर काँप रहे थे।

हीरालाल ने दृढ़ स्वर में कहा—'महाराज, यह शख्स कृष्णचन्द्र हर्गिज नहीं है। आपकी आज्ञा हो तो मैं अभी इसे थाने ले जाऊँ। इसके सिर पर पुलिस का जूता पड़ेगा तो सच-सच बता देगा सब।'

पुजारी ने हाथ हिलाकर कहा—'नहीं-नहीं, थाने न ले जाओ। मैं अभी इससे सच-झूठ पूछे लेता हूँ। तुम जाओ बेटा, मैं हाथ जोड़ता हूँ। तुम भले आदमियों के लड़के हो। यह बात बस्ती में फैलने न पाये। गंगा पर रहम खाओ। वह 'गौ' है।'—कहते-कहते पुजारी रो उठे।

दोनों जुआड़ियों ने हाथ जोड़कर कहा—'नहीं महाराज, हम क्या ऐसा अधर्म करेंगे ? गंगा तो इस कस्बे की देवी है। उसकी इज्जत के लिए तो हम जान दे सकते हैं, महाराज !'

'जियो, बेटा ! तुम जाओ। मैं अभी इस आदमी से एकान्त में सब पूछे लेता हूँ। जाओ बेटा !'

—६—

उस आदमी ने शान्त स्वर में कहा—'मैं कृष्णचन्द्र नहीं हूँ। पर मैं कोई लुच्चा-बदमाश नहीं हूँ। उस दिन जब आपने 'ब्रह्म-हत्या' की बात मुझ से कही, जब आप मेरे चरणों पर सिर पटक कर प्राण देने को तैयार हो गए तो प्रभु की इच्छा जानकर मैंने 'कृष्णचन्द्र' होना स्वीकार कर लिया। एक तपस्विनी, दुख की मारी स्त्री मुझे अपना पति समझ कर

सुख से बेसुध हो रही थी। क्या करूँ, कुछ तय नहीं कर पा रहा था। जीवन भर भटकता फिरा हूँ। माँ नहीं, बहिन नहीं, पत्नी नहीं, बन्धु-बान्धव नहीं। स्नेह के लिए मेरा चिर-तृषित हृदय व्याकुल हो उठा। गंगा को मैंने कलुषित नहीं किया। सोचा था कि जीवन भर इस सती नारी के अंचल की छाया में 'पुत्र' की तरह पड़ा रहूँगा। मेरी और कोई कामना न थी। इस प्रकार एक चिर-दुखी बना कर मैंने भगवान को प्रसन्न करना चाहा था। उस दिन यदि आपकी प्रार्थना को ठुकरा कर चला जाता, गंगा को इसी तरह बिलखते छोड़कर तो क्या यह पाप न होता? क्या इससे भगवान सन्तुष्ट होते? क्या मैं इससे पुण्यवान् होता? मैं वही संन्यासी हूँ। मेरे जीवन में अनेक घटनाएँ घटी हैं। मैंने बहुत सहा है। एक साधारण-से इन्द्रिय-विकार के वशीभूत मैं कभी नहीं हो सकता। जिस तरह यह गंगा पवित्र है, जिस तरह भगवान का चरणामृत पवित्र है, उसी तरह मेरा अन्तस्तल भी पवित्र है। मैं कभी किसी का अनिष्ट नहीं कर सकता। मैंनें कोई पाप नहीं किया है। भगवान की इच्छा से मैं यहाँ इतने दिन इस रूप में रुका रहा। शायद भगवान की अब इच्छा नहीं है। मैं अभी यह घर, यह नगर, यह पथ छोड़ कर चला जा रहा हूँ। यथा नियुक्तोस्मि, तथा करोमि।'

पुजारी की देही थर-थर काँप रही थी। नीचे धरती में मुँह दिये गंगा पड़ी थी सुध-बुध खोये।

संन्यासी ने पुजारी के करुण मुख की ओर देख हँसकर कहा—'आपने मेरी जटाएँ कटवा दीं। और यह अँगूठा, मैंने स्वयं काटा। कृष्णचन्द्र से मेरी शकल मिलती थी, पर उसके अँगूठा न था। कृष्णचन्द्र बनने के लिए मैंने अँगूठा काट डाला अपना। सोचा कि इस साध्वी नारी को कहीं मेरे कारण लांछित न होना पड़े। अँगूठा क्या, आवश्यकता होती तो यह बाँह भी काट सकता था। मेरे इस तुच्छ शरीर का मोल ही क्या है?'

पुजारी थर-थर काँप रहे थे। गंगा धरती में सिर दिये पड़ी थी।

संन्यासी ने स्वर को संयत करके कहा—'मेरा कमण्डलु कहाँ है? इसी समय मुझे चला जाना है। तुम से क्षमा माँगता हूँ! और तुम', धरती में मुँह दिये पड़ी गंगा की ओर निहार कर संन्यासी ने कहा—'मुझे शाप न देना भगवती! तुम्हें सुखी न कर सका, पर अपने सम्पूर्ण हृदय से तुम्हें मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारा जीवन शान्तिपूर्ण हो, तुम इसी तरह दुनिया के लिए आदर्श बनी रहो!'

—१०—

आँसुओं से धुला मुख ऊपर को करके क्रन्दन के स्वर में गंगा बोली—'बाबा, सिन्दूर मिट गया न?' और उत्तर की प्रतीक्षा न करके उसने फिर अपना माथा भगवान की चौखट पर पटक दिया।

पुजारी खड़े रो रहे थे। कलेजा फटने लगा। शीघ्रता से नीचे झुककर गंगा का सिर थाम लिया और आँसुओं के बीच चिल्ला उठे—'बेटी!'

गंगा ने पुजारी की गोदी में अपना रक्त से सना मुख छिपा लिया और गौ की तरह रँभा कर बोली—'बाबा!'

पुजारी ने रोते-रोते कहा—'बेटी, भगवान् बहुत-बहुत व्यथा पा रहे हैं! भगवान को और व्यथित न करो, मेरी लाड़ली!'

गंगा ने हाथ आगे करके कहा उसी क्रन्दन के बीच—'माला लाई हूँ—'

पुजारी ने वह आधी-गुँथी माला भगवान के कंठ में डाल दी। रोते-रोते बोले—'चरणामृत लो बेटी!'......पागलों की तरह गंगा झोंपड़ों के आगे दौड़ती रोती-रोती बोली—'तुम सब कहाँ हो? तुम सब कहाँ हो?'

और क्षण भर में 'मैय्या, मैय्या!' कहते बीसों कोढ़ी अँधेरे में गंगा के पास आ खड़े हुए।

गंगा ने रोकर कहा—'मुझे तुम लोगों ने क्यों बिसरा दिया ? बोलो निर्मोहियो, तुम सब मुझे क्यों भूल गए ?'

बीसों कोढ़ी सिर झुकाये खड़े थे अँधेरे में ।

गंगा ने चीत्कार करके रो कर कहा—'अपनी पापिनी मैय्या को क्षमा न करोगे अभिमानियो ? इधर आओ, मेरे पास आओ, मेरे पास आओ !'

बीसों कोढ़ी गंगा के पास सरक आये ।

तब गंगा ने उनके सिरों पर अपना काँपता हाथ रखकर कहा—'क्षमा दो मुझे, क्षमा दो लाड़लो ! मैं तुम्हारी हूँ ! मैं तुम्हारी माँ हूँ !'

बीसों कोढ़ी वहीं धरती पर माथा टेक कर अँधेरे में एक साथ रो उठे । गंगा भी रो रही थी ।

———

शान्ति

सरेशाम से ही आसमान में घटाटोप घिर रहा था और ज्यों-ज्यों घड़ियाँ बीतने लगीं, अंधियारी झुक आने लगी।

चम्पा ने खिड़की से देखा, पच्छिम में बागों के ऊपर बिजली कौंध रही है। उसे बड़ा भय लगा। स्वामी अब तक नहीं लौटे। जो कहीं वे रास्ते में हों!

बड़ी लड़की आँगन के बीच खड़ी-खड़ी चिल्लाई—'अम्माँ, ओ अम्माँ, देखो कैसे बादल आये हैं!'

चम्पा को ख्याल पड़ा, छत पर ईंधन डाल दिया था। सब भीग जायगा आज। लालटेन लिये बाहर निकल आई और कृष्णा से कहा—'चल तो, ऊपर से लकड़ियाँ उठा लें।'

दोनों माँ-बेटी लालटेन लिये छत पर चढ़ीं। बरसाती हवा पागलों की तरह बस्ती के ऊपर से भागती चली जा रही थी। लालटेन को फूँक मार कर बुझा गई।

पल-पल पर बिजली चमक रही थी। उस में सब दीख जाता था। सहसा उस किनारे की लकड़ी उठाते समय कृष्णा की नजर पड़ोस के खँड़हर तक चली गई। कैसा डरावना लग रहा है! विद्या कहती थी—इस में भूत रहते हैं! पल भर में बिजली की चमक से खँड़हर की ऊँची-नीची भग्न दीवारें और टूटी ईंटों के ढेर सब दीख गये। लेकिन वह उधर, डाक्टर साहब की खिड़की के नीचे, क्या है सफेद-सफेद?

कृष्णा के धक से हो गया। विद्या कहती थी—भूत सफेद-सफेद होते हैं! वह फिर उधर को देखने लगी। पल भर में बिजली चमकी और अब साफ देख पा कर कृष्णा ने चीख मारी—'हाय अम्माँ!' और वह दौड़ कर माँ की टाँगों से चिपट गई।

'क्या है ?'—माँ ने डर कर पूछा—'बोल तो क्या हुआ ?'

लड़की खूब काँप रही थी। रो कर बोली—'वह उधर भूत खड़ा है, सफेद-सफेद—'

'कहाँ ?'

'डाक्टर साहब की खिड़की के नीचे—'

सुन कर चम्पा का भय जाता रहा। पल भर में फिर बिजली चमकी और चम्पा उस सफेद-सफेद भूत को देख पाई। पर लड़की से कहा—'कहाँ है भूत ? चल, उतर चल......।'

स्वामी का नाम है रामचन्द्र। भोर की बेला वे लौट आये। चम्पा उन्हें खिला-पिला कर पान लगाने बैठी तो उसे पिछली रात की याद हो आई। सब सुनाया और अन्त में फिर अचरज करके कहा—'करीब चार बजे मैं कृष्णा को चादर उढ़ाने उठी थी। तब मैंने यहीं से झाँक कर देखा, चन्द्रसेन उस वक्त भी खिड़की के नीचे खड़ा था।'

रामचन्द्र ने आँखें चढ़ा कर कहा—'सच ?'

'सच कह रही हूँ मैंने देखा है उसे।'

रामचन्द्र ने गम्भीर हो कर कहा—'तब जान पड़ता है, वह सारी रात खिड़की के पास ही खड़ा रहा।'

चम्पा को जैसे करुणा हो आई। धीरे से बोली—'इतना प्रेम हो गया है इन दोनों में कि पागल हो गये हैं बिलकुल। पर मैं दिन-रात यही सोचती रहती हूँ कि परमात्मा, क्या अन्त होगा इस प्यार का ? हाय, अगर मुन्नी किसी हिन्दू की लड़की होती !'

रामचन्द्र ने कहा—'ईश्वर ही जानें।'

कृष्णा पाठशाला से आ गई। माँ ने उसे देखा तो फौरन हँस कर पूछा—'तूने रात क्या देखा था खँड़हर में ?'

कृष्णा ने पिता के आगे जा कर कहा—बाबूजी, मैं बिलकुल

सच्ची कहती हूँ, भूत था सफेद-सफेद ! बाबूजी, तुम मेरी बात झूठ मान रहे हो क्या ?'

बाबूजी ने सिर हिला कर कहा—'नहीं बेटी, मैंने भी एक दिन देखा था—तुम सच कह रही हो।'

× × ×

दूसरे दिन भी, सन्ध्या के धूमिल अँधेरे को और काला करके चारों ओर से घटाएँ घिर-घिर आईं। पशुओं का झुण्ड खँड़हर के आगे से निकल गया। और तब एक छाया-मूर्त्ति उससे प्रकट हो कर खिड़की के नीचे आ खड़ी हुई और खिड़की के भीतर से किसी छायामूर्त्ति ने हौले से कहा प्रार्थना करके—'अम्मी जाग रही हैं, बड़ा डर लग रहा है। मैं अभी चली जाऊँगी—'

इधर की छायामूर्त्ति ने धीरे से कहा—'तो जाओ, मैं जा रहा हूँ—'

यह चन्द्रसेन था। मुन्नी ने भीतर से हाथ बढ़ा कर उसका हाथ थाम लिया फौरन। और कातर होकर बोली—

'इतनी जल्दी नाराज हो जाते हो ! नहीं जाऊँगी मैं—'

चन्द्रसेन नहीं बोला। वह मुट्ठी बाँधे खड़ा था। मुन्नी ने जान लिया। धीरे से पूछा—'क्या है मुट्ठी में ?'

'चूड़ियाँ।'

'चूड़ियाँ ?'

'हाँ।'

'मेरे लिए लाये हो ?'

'हाँ।'

'लो, पहना दो—'

चन्द्रसेन ने एक-एक करके मुन्नी की सफेद, गोरी कलाइयों में चूड़ियाँ पहना दीं। फिर उस के दोनों हाथ पकड़ कर कहा—'अम्मी देखेंगी—'

'देखने दो।'

'क्या कहेंगी ?'

मुन्नी चुप रह गई। फिर धीरे से एक हाथ खींच कर जाने क्या उठा कर देने लगी और पूछा—'यह ले लोगे ?'

'क्या है ?'

'न खा सको तो अपने हाथ से किसी कुत्ते के आगे डाल देना—लड्डू हैं सँडीले के, अब्बा लाये थे।'

'लाओ। खा लूँगा।'

मुन्नी हँस कर बोली—'मुसलमान जो हो जाओगे!'

'क्यों ?'

'मैंने छू लिये हैं।'

चन्द्रसेन ने कहा—'तुम्हारे हाथ से छू जाने पर शायद जहर भी मेरे लिए अमृत हो जायगा। पिला देखो।'

मुन्नी न बोली। चन्द्रसेन कागज खोल कर वहीं खड़ा-खड़ा लड्डू खाने लगा तो हौले से बोली—'रुको—'

'क्या हुआ ?'

हाथ बढ़ा कर कहा, करुणाप्रार्थी हो कर—'मैं खिलाऊँगी।'

'खिला दो।'

मुन्नो ने थोड़ा-सा लड्डू अपनी सुकुमार उँगुलियों से उठा कर चन्द्रसेन के मुँह में डाल दिया। और विह्वल हो कर बोली—'यह हविस बहुत दिनों से पाले थी—'

चन्द्रसेन ने हँस कर कहा—'अब आज पूरी हो गई ?'

सिर हिला कर हौले से बोली—'हाँ!'

चन्द्रसेन की पहनाई चूड़ियाँ गोरी कलाइयों में चमचमा रही थीं। उस ने हाथ खींच लिया और दासी की तरह पूछा—'अब जाऊँ ?'

'जाओ।'

'नाराज तो नहीं हो ?'

'नहीं।

मुन्नी हटने लगी। चन्द्रसेन बोला—'सुनो !'

'क्या है ?'

'रात को आऊँ ?'

'आना।'

'बारह बजे ?'

'आना। मैं नहीं सोऊँगी।'

× × ×

झिमका लग गया। अँधेरी रात चारों ओर से कुंडलिया मारे बैठी थी। थाने के दोनों सिपाही ऐसे रंग-ढंग देख कर हलवाई की दूकान में भट्टी की गरमी पा कर बैठ गये। कहीं कोई नहीं है। केवल पेड़ों से जब-तब पानी की बूँदें सूखे पत्तों पर टपक कर सन्नाटा तोड़ देती हैं।

चन्द्रसेन खिड़की के नीचे भीगता खड़ा था। बहुत धीरे-से खिड़की की किवाड़ें खुलीं और अँधेरे से आवाज आई—'तुम आ गये ?'

'हाँ।'

'भीग गये क्या ?'

'नहीं।'

पर मुन्नी ने हाथ बढ़ा कर उस का कोट छू लिया और दुखी हो कर बोली—'बिलकुल शराबोर हो रहे हो ! क्यों चले आये ? अगर तबियत ख़राब हो जाय !'

चन्द्रसेन नहीं बोला। खिड़की के ऊपर थोड़ी-सी टीन लगी थी। मुन्नी उसका हाथ पकड़ कर बोली—'इधर को आ जाओ।' फिर उसके भीगे हाथ को अपने डुपट्टे से पोंछ कर बोली—'एक परेशानी की बात सुनोगे ?'

'परेशानी की ? सुनाओ, क्या बात है ?'

'मुझे तब से बहुत डर लग रहा है। अम्माँ से सुना है—'

'क्या सुना है ?'

'अब्बा हरदोई इसीलिए गये थे।'

'किस लिए ?'

'वहाँ कोई लड़का है—'

'फिर ?'

'अम्मीं कह रही थीं—'

'क्या ?'

'यही कह रही थीं कि अगर वे लोग राजी हो जायँ—'

चन्द्रसेन चुप रहा। मुन्नी ने मानो भविष्य की कल्पना करके चन्द्रसेन के चुप हो जाने से घबरा कर उसका हाथ कस कर पकड़ लिया और मुँह से जैसे अनजाने ही निकल गया—'तब क्या होगा ?'

चन्द्रसेन घड़ी भर चुप रहा। फिर उस ने अव्यक्त से स्वर में कहा—'तुम्हारी शादी ठहर रही है—'

मुन्नी ने घबरा कर हाथ और कस लिया। बोली—'क्या होगा अब, तभी से मेरा कलेजा काँप रहा है—'

कि भीतर से जाने कौन पुकार उठा—'मुन्नी, अरी मुन्नी !'

चन्द्रसेन ने धीरे-से कहा—'जाओ।'

मुन्नी ने खिड़की पर मुँह रख कर कहा—'मेरे लिए इतनी-इतनी तकलीफें उठा रहे हो। अब जान दे कर भी बदला नहीं चुका पाऊँगी—'

'मुन्नी, ए मुन्नी !'

जान पड़ा आवाज देनेवाला इधर को ही चला आ रहा है। मुन्नी ने शीघ्रता से खिड़की बन्द कर दी। चन्द्रसेन उसी अँधेरे में पानी में भीगता ईंटों के ढेर के ऊपर खड़ा रहा।

× × ×

लखनऊ से एक चिट्ठी आई। चन्द्रसेन के एक साथी ने लिखा था

किमुझे पता लगा है, तुम्हारी अटेंडेंस् बहुत कम हैं। साल नष्ट मत करो। अब अगर न आये तो प्रिंसिपल तुम्हें परीक्षा में बैठने न देंगे। फौरन चले आओ।

चन्द्रसेन खिन्न मन से लखनऊ चला गया। पर 'चित्रकला' में उस का ध्यान किसी तरह न लगा। उल्टा प्रतिदिन अस्वस्थ रहने लगा। हर घड़ी मुन्नी की तसवीर आँखों के आगे नाचती रहती। डाक्टर अनवर अली की लड़की मुन्नी—उस चंद्रमुख की किरणों से चन्द्रसेन का हृदय घिरा है। उसकी सफेद, गोल बाहों से चन्द्रसेन का कण्ठहार सजा है। उसके प्रेम का दरिया कि जिस का कहीं ओर-छोर नहीं है, चन्द्रसेन के चारों ओर बह रहा है। इस कोमल बन्धन को वह अब कैसे तोड़ पायेगा ? कैसे उसे भूलेगा ?

और डाक्टर अनवर अली की लड़की मुन्नी; उसकी शादी हरदोई में ठहर रही है न ! और वह मुसलमान है !

चन्द्रसेन पागलों की तरह लखनऊ में रह रहा था और जब तक उस से संवरण हुआ, सहा। जब नहीं सहा गया तो एक दिन किसी से बिना कुछ कहे-सुने, बिना सामान के स्टेशन पर आ खड़ा हुआ और ट्रेन चुपचाप उसे वहाँ उतार गई जहाँ सब बन्धन बँधे थे उस के। माँ ने अचरज किया, पिता चौंके। चन्द्रसेन ने सिर झुका कर कहा—'छुट्टी पड़ गई थी—'

...खँड़हर की भग्न दीवारों ने सब बातें सुनी थीं। वे मानो सिर हिला कर बोलीं—तुम आ गये, अच्छा ही किया, वह बहुत परेशान थी।'

बहुत परेशान थी ?

ईंटों के ढेर बोले—'हाँ, रोज इस खिड़की पर आ कर आँसू बहाती थी।'

आँसू बहाती थी ?

'हाँ,' सब पुकार कर बोले—'तुम्हारे लिए।'

...चन्द्रसेन खिड़की के नीचे खड़ा था। अचानक खिड़की खुली और चन्द्रसेन ने उधर देखा। आश्चर्य और हर्ष से विह्वल हो कर किसी ने कहा—'तुम!' और अर्द्ध-विक्षिप्त की तरह हाथ बढ़ा कर उसका कन्धा पकड़ लिया।

'कब आये?'

'आज ही।'

'मेरी याद आई थी?'

चन्द्रसेन ने कहा—'नहीं। तुम्हें मेरी याद आती थी क्या?'

शरम से पलकें गिरा कर कहा—'रोती थी—'

'अब खुश हो?'

'बहुत! मेरी खुशी का ठिकाना नहीं है। तुम आ गये।'

'यों ही चला आया हूँ। कल शायद लौट जाऊँ। तुम्हें देखे बिना इतने दिन हो गये, दिल नहीं माना, चला आया।'

मुन्नी ने डर कर कहा—'कल लौट जाओगे? लेकिन मुझे बहुत जरूरी बातें कहनी हैं। कल मत जाओ। तुम्हारे पैरों पड़ूँ, कल नहीं।'

चन्द्रसेन ने उस का हाथ अपनी मुट्ठी में दाब कर कहा—'अरे, इतना परेशान क्यों हो रही है? कल नहीं जाऊँगा, लो!'

मुन्नी को जैसे शान्ति मिली। चन्द्रसेन ने आश्वासन से कहा—'अब वे अपनी जरूरी बातें तो कहो।'

मुन्नी ने कहा—'तुम्हें सब बातें बताना चाहती थी। मुझे मालूम हो गया है।'

'क्या मालूम हुआ?'

मुन्नी ने कहा—'उन लोगों ने मान लिया है, अब कल एक औरत मुझे देखने आयेगी।'

चन्द्रसेन चुप हो गया। मुन्नी की आँखें छलछला आईं। रो कर बोली—'अब क्या होगा?'

चन्द्रसेन ने दृढ़ता से कहा—बिलकुल मत घबराओ, मैंने अब सोच लिया है।'

'क्या सोचा है?'

'यह कि तुम्हें नहीं छोड़ूँगा और यह कि दुनिया की कोई ताक़त मुझसे तुम को अलग नहीं कर सकेगी!'

उसने दोनों हाथ पकड़ लिये और रो उठी।

चन्द्रसेन ने उसी दृढ़ता से कहा—'सच मुन्नी, तुम्हें यक़ीन नहीं होता?'

आँसू पी कर कहा—'यकीन है।'

'अब जो तुम कहो, करूँ।'

मुन्नी ने उन्हीं हाथों पर अपना मुख रख लिया और सिसक कर कहा—'तुम्हारे बिना जिन्दा नहीं रह पाऊँगी। मेरा तन-मन तुम्हारा है—'

चन्द्रसेन घड़ी भर चुप रहा, फिर उस ने धीरे से कहा—'अब और कोई उपाय मुझे नहीं सूझता। कहो तो तुम्हारे अब्बा से कहूँ।'

'क्या कहोगे?'—आँसू पोंछ कर बोली।

'कहूँगा, मैं मुन्नी से 'प्रेम' करता हूँ—हम दोनों एक-दूसरे के बिना जिन्दा नहीं रह पायेंगे।'

'कह देना।'

'अगर वे तुम से पूछें?'

'कह दूँगी सब—'

'वे बहुत वसीय हैं, मान लेंगे, तुम्हारा क्या ख्याल है, नहीं मानेंगे?'

मुन्नी ने धीरे से कहा—'शायद मान लें—'

'मैं उन्हें सब बात लिख कर दे दूँगा।'

'दे देना।'

चन्द्रसेन तनिक रुका फिर उसने कहा—'शायद ऐसा करना पड़े,

जरूरत हुई तो तुम्हें सब के बीच 'शुद्ध' कर लूँगा। कोई एतराज तो नहीं है ? हिन्दू बन जाओगी !'

'बन जाऊँगी।'

'तुम्हारा नाम बदल दूँगा।

'बदल देना।'

'शान्ति' 'कह कर पुकारूँगा।'

'पुकारना।'—फिर हौले से पूछा—'अब्बा ने अगर न माना तो क्या होगा ?'

चन्द्रसेन थोड़ी देर चुप रहा फिर उसने धीरे से कहा—'देखा जायगा, मुझे अब डर नहीं है—'

× × ×

दूसरे दिन शाम को रामचन्द्र जब तहसीलदार साहब के यहाँ से लौटे तो चम्पा को दरवाजे के पीछे खड़ा पाया। बोली—'गाय अभी तक नहीं आई।'

रामचन्द्र ने कहा—'आती होगी। चलो, भीतर चलो तुम्हें एक खबर सुनाऊँ।'

गाय का बछड़ा खुल गया था और चौके के पास कूद-फाँद रहा था। चम्पा उसकी रस्सी पकड़ कर बाँध आई। फिर आँगन में खाट पर लेटे स्वामी के आगे आ कर बोली—'क्या खबर है, सुनाओ।

रामचन्द्र ने उठ कर कहा—'बहुत बुरी खबर है।'

चम्पा मुँह देखने लगी। रामचन्द्र धीरे से बोले—'चन्द्रसेन 'मुसलमान' हो रहा है—'

'ऐं !'

'सच।'

'कौन कहता था ?'

'डाक्टर साहब के कम्पाउंडर से सुना है एक आदमी ने। मुझसे उसने अभी कहा है। चन्द्रसेन ने डाक्टर अनवर अली को चिट्ठी लिख कर अपने 'प्रेम' की बात बतला दी और मुन्नी के साथ 'शादी' करने को कहा। डाक्टर साहब, सुनते हैं, बहुत ख़फ़ा हुए। जल कर चन्द्रसेन के बाप को लिखा है कि चन्द्रसेन को 'मुसलमान' कर दो, नहीं तो उसकी आँखें निकलवा लूँगा!'

चम्पा काँप कर बैठ गई। बोली—'हे ईश्वर, फिर?'

'फिर क्या, अब सुनते हैं, चन्द्रसेन राजी हो गया है मुसलमान होने को।'

'माँ-बाप भी मान गये?'

'माँ-बाप क्या कर सकते हैं? कितनी औकात है बेचारे की! डाक्टर चाहें तो सचमुच चन्द्रसेन की आँखें निकलवा सकते हैं। 'हाय-हाय' कर रहे हैं माँ-बाप।'

'लड़की ने कुछ नहीं कहा?'

'किसने, मुन्नी ने?—उसने कह दिया है, सुनते हैं, चन्द्रसेन को 'पति' मान लिया है। सब साफ़ .कह दिया। इसी से तो डाक्टर ने ऐसा खत लिखा है।'

चम्पा अवाक् हो गई।

रामचन्द्र ने धीरे से कहा—'शायद एक-दूसरे को सचमुच नहीं छोड़ पायेंगे। अगर जबरदस्ती अलग किया गया तो शायद मुश्किल से ही जिन्दा रहेंगे।'

'चन्द्रसेन के बिना मुसलमान हुए, काम नहीं चल सकता?'

'डाक्टर मानेगा?'

'तो चन्द्रसेन को मुसलमान बना लेंगे?'

'हाँ, उसे बन्ना ही पड़ेगा!'

टूटी दीवारें और ईंटों के ढेर दुखी हो कर सुन रहे थे, कान लगाये।

खँडहर के ऊपर जाने कौन-सा तारा अपना मन्द प्रकाश लिये रुका रहा।

मुन्नी ने अपना सिर खिड़की की लोहे की सलाखों पर पटक दिया। आँखों से धारें बह गईं।

चन्द्रसेन शान्त था। उसने हाथ बढ़ा कर सफेद-गोरी कलाई पकड़ ली और हँस कर बोला—'अब रोने की क्या बात है? तुम्हारे अब्बा ने मान लिया है। मैं मुसलमान हो जाऊँगा।'

मुन्नी ने लोहे की सलाखों पर अपना सिर पटक दिया। आँखों से आँसुओं की धार बह रही थीं। पागलों की तरह विसुध हो कर कहा—'मुसलमान मत होओ। तुम्हारे पैरों पड़ूँ, मुझ अभागिन के लिए अपना 'नाश' न करो!'

चन्द्रसेन ने शान्त हो कर कहा—'मुसलमान हुए बिना तुम्हें पा नहीं सकूँगा—यह नहीं सोचतीं?'

आँसुओं के बीच कहा—'मुझे छोड़ दो—'

चन्द्रसेन ने कहा—'तुम क्या पागल हो गई हो? तुम्हें छोड़ कर फिर और जिन्दा रह पाऊँगा? तुम्हें यकीन है?'

हाय, इसे वह जानती है—वह भी चन्द्रसेन को छोड़ कर जिन्दा नहीं रह पायेगी।

लोहे की सलाखों पर अपना सिर पटक दिया।

टूटी दीवारों और ईंटों के ढेर ने दुख की साँस ली धीरे से।

और मुन्नी ने सिर घुमाया तो अम्मी को अपने आगे खड़ा पाया। पलक मारते खिड़की बन्द हो गई।

चन्द्रसेन उस अँधेरे में पैर बढ़ाने लगा तो खँडहर की टूटी दीवारें और ईंटों के ढेर बहुत धीरे से बोले—'मुसलमान होओगे!'

× × ×

दूसरे दिन सारे कस्बे में यह बात फैल गई कि चन्द्रसेन मुसलमान हो रहा है।

कुछ लोग सुन कर हँस रहे थे, कुछ अफ़सोस मना रहे थे, कुछ गालियाँ दे रहे थे चन्द्रसेन को। जितने मुँह थे, उतनी ही बातें थीं। सभी एक-दूसरे से कह रहे थे—'चन्द्रसेन मुसलमान हो रहा; तुमने सुना?'

चन्द्रसेन भीतर कोठरी में पड़ा था। माँ रोती थी, बाप उसाँसें लेते थे।

रामनाथ बनिये की दूकान पर मुन्शीजी सोंठ ले रहे थे। उन्होंने सुना तो बोले—'आजकल के लैला-मजनूँ ये हुए—अब इनकी भी किताब बनेगी—मुन्नी-चन्द्रसेन—इनके भी गाने चलेंगे!'

'पण्डितजी पास के हलवाई से गौ का शुद्ध दूध ले रहे थे। हाथ उठा कर बोले—'शिव-शिव! घोर कलियुग आ गया।'

सामनेवाला बूढ़ा दरजी आर्य्य-समाजी था। उसने मशीन रोक कर कहा—'अब यही 'आदर्श' है हमारे नौजवानों का। एक 'हकीकतराय' था, जिसने 'धर्म' पर जान दे दी। और एक यह चन्द्रसेन है—एक लड़की के लिए मुसलमान होने को तैयार है। भारत गारत हो गया; क्यों? प्राचीन वैदिक आदर्श नहीं रहा। तब पचीस वर्ष तक लड़के ब्रह्मचर्य पालन करते थे। हर स्त्री को माता के समान देखते थे। अब वे बातें नहीं रहीं। नास्तिकता फैल गई।'

दो युवक तमोली की दूकान पर पान खा रहे थे। एक बोला—'तुम ने देखा है कभी डाक्टर की लड़की को?'

दूसरा बोला—'नहीं कैसी है?'

पहला बोला—'अय हय! क्या पूछते हो! गजब की सुन्दर है। फूल समझो गुलाब का।'

दूसरा बोला—'यह बात! तभी चन्द्रसेन मुसलमान बनने को तैयार हो गया। तुमने नहीं सुना, 'खूबसूरती बला है'...।'

···तीनों मुख्तार और एक पोस्ट-मास्टर, जो उसी मुहल्ले में रहते थे, चुपके-से चन्द्रसेन के घर में घुस आये ।

बाप का चेहरा सफेद था । खड़े हो गये फौरन । एक मुख्तार ने उन से पूछा—'चन्द्रसेन कहाँ है ?' तो कोठरी की ओर इशारा कर दिया ।

अँधेरे में, खाट में सिर दिये पड़ा था । सब ने उसे घेर लिया । धीरे-धीरे बातें होती रहीं। चन्द्रसेन गुम-सुम बैठा था···।

अन्त में, पोस्ट-मास्टर ने कहा—'अच्छा, सब जाने दो । एक बात का जवाब दो, वह लड़की, अगर तुम कहो तो, 'हिन्दू' हो सकती है ?'

चन्द्रसेन ने सिर झुकाये कहा—'जी ।'

दीनदयालु मुख्तार ने पूछा—'कैसे मालूम ?'

चन्द्रसेन ने धीरे से कहा—'जी । उससे मैंने पूछा था ।'

'तब क्या कहा ?'

'कहा कि हो जाऊँगी हिंदू ।'

पोस्ट-मास्टर ने सन्तोष की साँस ली, बोले—'तब ठीक है ।'

पर दीनदयालु मुख्तार ने पूछा—'धोखा तो नहीं देगी ?'

चन्द्रसेन ने मानो चौंक कर कहा—'जी ?'

पोस्ट-मास्टर ने उन्हें रोका, बोले—'उस लड़की को मैं अच्छी तरह से जानता हूँ । धोखा देगी, यह सोचना उस पर भारी जुल्म करना है । बिलकुल गौ है ।'

एक दूसरे मुख्तार ने तब चन्द्रसेन से समझा कर कहा—'हम लोगों ने यह तय किया है कि तुम उस लड़की से शादी कर लो । डाक्टर अगर मुसलमान होने को कहते हैं तो कोई डर मत करो, हो जाओ मुसलमान । इसके बाद, शादी जब हो जाय, वह लड़की तुम्हारे घर आ जाय, उसी दिन हम लोग मिल कर तुम्हारी और लड़की की 'शुद्धि' कर लेंगे—सब लोग तैयार हैं । तुम्हें तो इसमें कोई एतराज नहीं है ?'

चन्द्रसेन ने सिर उठा कर कहा—'बिलकुल नहीं।'

× × ×

निश्चय हुआ कि मेरठ में जा कर चन्द्रसेन 'मुसलमान' बनेगा और वहीं फिर डाक्टर अनवर अली की लड़की मुन्नी के साथ उसका 'निकाह' होगा। यहाँ बहुत डर है और डाक्टर साहब की बहुत तौहीन होगी।

डाक्टर साहब का कम्पाउण्डर चन्द्रसेन से आ कर सब बातें कर गया। चन्द्रसेन ने हर बात मान ली······।

रामचन्द्र को भी मालूम हो गया। चम्पा से आकर पूछा—'आज कौन दिन है?'

'बुध है आज।'

'बुध है, तो परसों चन्द्रसेन मुसलमान होगा।'

'परसों हो जायगा मुसलमान? यहीं होगा?'

'नहीं, मेरठ जायगा और वहीं फिर मुन्नी से शादी होगी।'

चम्पा के मुँह से और बात न निकली।

रामचन्द्र ने कहा—'लेकिन अब कोई डर नहीं है हम लोगों को। चन्द्रसेन को समझा दिया गया है। शादी के बाद दोनों की 'शुद्धि' हो जायगी।'

'हिन्दू हो जायँगे फिर?'

'हाँ,'

चम्पा ने शान्ति की साँस लेकर कहा—'तब फिर क्या हानि है, कहने को दो दिन के लिए हो जाय मुसलमान। यहाँ लौट कर आयेगा न?'

'हाँ, यहीं शुद्धि होगी। हम सब लोग तैयार हैं।'

'शुद्धि हो जाय, उसी दिन मुन्नी को अपने घर बुलाऊँगी।'

रामचन्द्र ने हँस कर कहा—'खिलाओ-पिलाओगी भी उन दोनों को?'

'हाँ, दावत दूँगी मैं जोड़े को।'

'तुम्हारे बरतन अपवित्र हो जायँगे।'

'हो जाने दो।—एक साड़ी दूँगी उसे। साड़ी पहिना कर भेजूँगी।'

रामचन्द्र ने हँस कर कहा—'अब मैं भी किसी मुसलमान लड़की से शादी करना चाहता हूँ। तुम से जी भर गया।'

चम्पा ने मुस्कुरा कर कहा—'एक छोड़, दस कर लो। मुझे परवाह नहीं है।'

× × ×

शुक्र की रात को, पच्छिमी मसज़िद में रोशनी हुई और शहर के प्रायः सभी संभ्रान्त मुसलमान वहाँ आये। बड़े मौलाना हाज़िर थे। डाक्टर अनवर अली शान्त-मुख बैठे थे अपनी टोपी ओढ़े।

चन्द्रसेन को एक मुसलमान युवक अपने साथ लिये था और बहुत नम्रता से उस से बातें कर रहा था। पर चन्द्रसेन शायद कुछ सुन नहीं पा रहा था। चेहरा उसका ज़र्द था और ओठ सूख गये थे।

चन्द्रसेन की चोटी काट दी गई। बड़े मौलाना ने उसे क़लमा पढ़ाया। फिर सब लोगों ने उसे छाती से लगाया और चन्द्रसेन ने सब 'दीन' भाइयों के साथ बैठ कर खाना खाया......।

आधी रात बीतने पर आई तो मौलाना ने कहा—'लड़की कहाँ है?'

किसी ने कहा—'उस कमरे में है।'

'ले आओ उसे। अब निकाह हो जाना चाहिये।'

चुँदरी ओढ़े मुन्नी को एक आदमी वहाँ ले आया सहारा दे कर।

चन्द्रसेन की आँखों में आँसू भर आये। सिर नत कर लिया। बोझिल मन लुढ़क कर मानो मुन्नी के पैरों पर जा पड़ा और चीत्कार करके कहने लगा—'प्राणाधिक, तुम्हारे लिए सब सह लिया है......'

डाक्टर अनवर अली शान्त-मुख हो कर बैठे थे अपनी टोपी ओढ़े।

काज़ी ने 'निकाह' पढ़ा। 'महेर' बँधी। अब आज से चन्द्रसेन उर्फ़

ग़ियासुद्दीन मुन्नी के तन-मन-प्राण का अधिकारी हुआ। अब कोई अन्तर नहीं है......।

दूल्हा-दुलहिन उठाये गये। वहीं मुसलमान युवक उन्हें ले चला। उस के घर आज दावत है दोनों की......।

मसज़िद के लम्बे-चौड़े दरवाजे पर एक लालटेन टँगी थी बड़ी-सी। वे लोग सीढ़ियाँ उतरने लगे। युवक मुसलमान आगे था। शायद चादर पैर में उलझी, इसलिए मुन्नी ने हाथ बाहर निकाला—

चन्द्रसेन देखने लगा—एक काला स्याह हाथ लालटेन की रोशनी में चमक उठा।

क्या यह 'मुन्नी' नहीं है!......

मुसलमान युवक ने घूम कर पीछे देखा—मसजिद की सीढ़ियों पर दुलहिन खड़ी है और पास ही चन्द्रसेन बेसुध पड़ा है।

× × ×

घर में घुसते ही रामचन्द्र ने भवें चढ़ा कर कहा—

'तुमने सुना?'

'क्या हुआ?'

धम्म से बैठ कर बोले—'ग़ज़ब हो गया!

'क्या हुआ? साफ़-साफ़ कहो।'

सिर पकड़ कर बोले—'चन्द्रसेन मुसलमान हो गया। पर मुन्नी के साथ उस की शादी नहीं हुई।'

'शादी नहीं हुई? कैसे पता चला?'

'पता! आज यहाँ मुन्नी की शादी जो हो रही है। बराती आ गये।'

'चन्द्रसेन कहीं का न रहा!'

'धोखा दे दिया गया उसे।'

'लौट कर आया है क्या?'

'नहीं। उसका पता ही नहीं है किसी को।'

'हाय परमात्मा, यह क्या हो गया !'

रामचन्द्र ने दुःखी हो कर कहा—'यह डाक्टर आदमी नहीं है—राक्षस है।'

'अब क्या होगा...?'—चम्पा फटी आँखों से पूछने लगी।

रामचन्द्र खाट पर लेट गये और धीरे से कहा—'ईश्वर ही जानें।'

× × ×

शाम को शहनाई बज उठी। गैस का उज्ज्वल प्रकाश आधे मील तक फैला था। छोटी लड़की कृष्णा विद्या के साथ दौड़ी आई और चौखट पर पैर रक्खे-रक्खे पुकारा—'अम्माँ, ओ अम्माँ !'

चम्पा का मन जाने कैसा हो रहा था। आँगन में आ कर बोली—'क्या है, क्या है, क्यों शोर मचा रही है ?'

कृष्णा जल्दी-जल्दी हाथ हिला कर बोली—'आओ, जल्दी आओ !'

'क्या है ?'—झल्ला कर पूछा।

बोली—'अरे, मुन्नी की 'बिदा' हो रही है। आओ जल्दी।'

चम्पा के मन पर जैसे किसी ने ठोकर मार दी......।

शहनाई बज रही थी। गैस का उज्ज्वल प्रकाश फैला था। डाक्टर अनवर अली बड़े आदमी हैं। राय साहब की 'कार' मँगा ली। कार में बिठा कर बेटी को बिदा करेंगे। बेटी का ब्याह कर दिया। बहुत बड़े घर की दुलहिन हो कर जा रही है। दामाद हज़ारों में एक है।

चम्पा की नज़र उधर जा पड़ी। पिछवाड़े वह खँड़हर सोया पड़ा है। भग्न दीवारें और ईंटों के ढेर सुप्त हैं।

इसी खँडहर पर चन्द्रसेन आ कर खड़ा होता था। यह खिड़की दीख रही है—बन्द है शायद।

चम्पा की आँखों में आँसू भर आये। मन ही मन रो कर कहा—'हाय चन्द्रसेन......!'

कृष्णा ताली पीट कर बोली—'वह आई मोटर, वह आई।'

चम्पा ने देखा—फूल-मालाओं से सजी कार के भीतर डाक्टर साहब की बेटी और दामाद बैठे जा रहे हैं। दामाद आगे की सीट पर है। मुन्नी पीछे बैठी है।

कार सामने से हो कर निकलने लगी। चम्पा ने देखा—कागज़ की तरह सफेद, एक दुर्बल मुख-कमल कार की खिड़की पर रक्खा है। नाक में सोने की नथ लटकी है। नयनमुँदे नयनों से दोनों शुभ्र कपोलों पर आँसुओं की लड़ियाँ गिर रही हैं। पतले ओठ सटे हैं। कोई शब्द नहीं है, चीत्कार नहीं है, फ़रियाद नहीं है, पुकार नहीं है।......

अरे, इस मुर्दा लाश को कौन लिये जा रहा है!—शहनाई बज रही है।

× × ×

कई दिन पीछे रामचन्द्र शाम को टहल कर लौटे तो दूर से ऐसा लगा कि कोई डाक्टर साहब के पिछवाड़े खँडहर में खड़ा है।

सन्देह हुआ, चन्द्रसेन है क्या? और आवाज़ दे दी—'कौन?'

वह जो आदमी-सा दीखता था, खँडहर के उस पार उतर गया।

थोड़ी देर खड़े-खड़े देखते रहे फिर घर में चले आये। चम्पा से कहा—'कोई खड़ा था अभी खँडहर में।'

'कौन था?'

'जाने कौन था?'

'चन्द्रसेन तो नहीं था?'

'पता नहीं। उधर को उतर गया।'

चम्पा ने साँस खींच कर कहा—'जाने कहाँ होगा अभागा। ज़िन्दगी बिगड़ गई बेचारे की। माई-बाप मुँह छिपाते फिरते हैं—'

रामचन्द्र ने कहा—'वे लोग अब यहाँ नहीं हैं।'

'क्या यहाँ से चले गये?'

'हाँ, ताला पड़ा है दरवाज़े में। पता नहीं, कब चले गये और कहाँ गये।'

चम्पा चुप रह गई। पड़ोसी नाई का नौजवान लड़का कभी-कभी आ जाता है। वही घुस आया अचानक। गाय के बछड़े पर हाथ फिरा कर चिल्लाया वहीं से—'बाबूजी, मालिश कर दूँ सिर की?'

रामचन्द्र ने कहा—'आ, भाई आ, खूब आया। मेरा सिर पिरा रहा है। ठीक कर किसी तरह।'

नाई के लड़के ने सिर के बालों में तेल छोड़ा, फिर 'पट्-पट्' करके अँगुलियाँ चलाने लगा और ताली बजाता हुआ बोला—'बाबूजी, आज मैंने चन्द्रसेन को देखा।'

रामचन्द्र ने चौंक कर पूछा—'चन्द्रसेन को देखा, कहाँ?'

'अजी, वहाँ बैठा था—यह बगिया है न रामसहाय की, उस के पास जो एक मसज़िद है छोटी-सी, कबरें हैं तीन-चार, वहीं बैठा था।'

'मसज़िद में?'

'हाँ बाबूजी, बिलकुल काँटा हो गया है सूख कर। कैसा उस का सोने-सा रंग था, काला हो गया है और बाल बढ़ा लिये हैं; दाढ़ी है। वह तो मुसलमान हो गया है बाबूजी!'

रामचन्द्र ने और बात नहीं कही......।

नाई का लड़का सिर की मालिश करके चला गया। चम्पा को दूध 'जमाना' था। वह कढ़ाई में चमचे से दूध ठण्डा कर रही थी। एक बार हाथ से छू कर देखा, ठीक है। और दहीवाली 'मटकी' में दूध उँड़ेल कर 'जामन' दे दिया। फिर उसे सम्हाल कर भीतर रख आई। कुछ ख्याल नहीं रहा था—पीछे की खिड़की अब तक खुली पड़ी थी, उसे बन्द करने लगी। वह खँडहर सोया है। और क्षण भर में चम्पा की आँखों ने देखा—डाक्टर साहब की खिड़की के नीचे कोई खड़ा है।

अभी बबुआ कह रहा था, चन्द्रसेन आ गया है। निश्चय वही है—वही है जैसे घबरा कर दौड़ी। रामचन्द्र को झपकी आ गई थी, खर्राटे भर रहे थे। चम्पा ने बाँह झकझोर कर कहा—'सुनते हो, जागो तो!'

रामचन्द्र ने नींद से चौंक कर पूछा—'क्यों?'

काँपती जुबान से बोली—'मैंने अभी देखा है; चन्द्रसेन खड़ा है वहाँ।'

...रामचन्द्र धीरे-धीरे पैरों की चाप छिपाये आ खड़े हुए। शायद चन्द्रसेन ने नहीं जाना। उसी बन्द खिड़की के नीचे खड़ा था अँधेरे में। रामचन्द्र देखते रहे—लोहे की सलाखों पर सिर रख कर चन्द्रसेन ने हौले से कहा—'मुन्नी!'

कोई नहीं बोला।

'मुन्नी!'

कोई नहीं बोला।

रामचन्द्र ने देखा—

चन्द्रसेन ने चारों ओर सिर घुमाया, फिर 'खटाक्'—से अपना सिर दे मारा खिड़की पर।

अब रहा नहीं गया। बढ़ कर उसे पकड़ लिया और प्यार से कहा—'यह क्या चन्द्रसेन! पागल हो गये हो क्या?'

चन्द्रसेन न बोला। रामचन्द्र ने उसकी बाँह पकड़ ली और सहारा दे कर कहा—'आओ, चलो मेरे साथ......।'

चन्द्रसेन उनके आँगन में आ बैठा तो रामचन्द्र ने कहा—'रोशनी इधर लाओ।'

चम्पा लालटेन ले आई। अब प्रकाश में देखा—सिर पर 'गूमड़ा' फूल आया था। चम्पा ने उसका चेहरा देखा तो हृदय रो उठा। काँप कर पूछा—'यह क्या हुआ?'

रामचन्द्र ने दुख से कहा—'खिड़की पर सिर पटक दिया है।'

चम्पा की आँखें भर आईं। चन्द्रसेन चुप बैठा था। रामचन्द्र ने कहा—'कुछ खा लो भाई, भूखे जान पड़ते हो।' चम्पा खाना लेने जाने लगी। चन्द्रसेन ने धीरे से कहा—'खा चुका हूँ। पानी पिऊँगा थोड़ा।'

चम्पा लोटे में पानी ले आई। कुछ ख्याल ही न रहा। दया से कलेजा भर गया था। उसके हाथ में लोटा देने लगी। चन्द्रसेन ने अपनी बुझी-सी आँखें ऊपर कीं, करुण मुस्कुराहट से बोला--'मैं मुसलमान हो गया हूँ। दूर से पिला दीजिए।'

और वह खाट से नीचे उतर कर मुँह से चुल्लू लगा कर बैठ गया।

चम्पा झिझक कर खड़ी रही। रामचन्द्र ने लोटा उससे ले लिया और बिना कुछ कहे चन्द्रसेन के हाथों पर धर दिया...

...बैठक में तख्त पड़ा था। चन्द्रसेन दरी बिछा कर उस पर लेट रहा और लेटते ही शायद सो गया।

तब रामचन्द्र ने पत्नी से कहा—'अब इसे कहीं जाने मत दो। दीनदयालु मुख्तार से सुबह ही भेंट करूँगा। और जो हुआ सो हुआ। अब कम से कम इसे 'शुद्ध' तो कर लिया जाय।'

चम्पा ने कहा—'इतना हो जाय तो भी गनीमत है, बिरादरी में तो मिल जाय।'

× × ×

सब लोगों ने कहा—'हाँ-हाँ, ज़रूर। जरूर शुद्ध करेंगे उसे।'

चन्द्रसेन से आ कर कहा तो फीकी हँसी हँस दिया। क्या उस का दिमाग़ भी खराब हो गया है?

पोस्ट-मास्टर साहब ने पूछा—'हिन्दू होना चाहते हो?'

तो धीरे से कह दिया—'जी।'

दीनदयालु मुख्तार ने कहा—'इस के दिल-दिमाग़ दोनों पर सदमा पहुँचा है।'

तब रामचन्द्र ने सुनाया कि कल रात उस खिड़की पर सिर पटक दिया था।

सब लोग स्तब्ध रह गए। पोस्ट-मास्टर ने रामचन्द्र से कहा—'अब आप जरा इसकी देख-रेख रक्खें, चला न जाय कहीं।'

रामचन्द्र ने कहा—'नहीं, मैं चौकसी रक्खूँगा। शुद्धि किस दिन होगी?'

'कल ही रक्खो।'—मुख्तार ने कहा।

पोस्ट-मास्टर ने कहा—'कल? कल तो मुझे छुट्टी न होगी। परसों इतवार है, परसों की रखिए।'

'अच्छा, परसों ही सही।'

वे सब चले गये तो चम्पा पास आ बैठी। उसे जाने कितना 'मोह' हो गया था इस 'अधर्मी' से। सब सुनती रही।

चन्द्रसेन चुप बैठा रहा, सिर डाले। फिर चम्पा ने मुन्नी के बिदा होने का सारा दृश्य सुनाया।

चन्द्रसेन जैसे जाग उठा हो। चम्पा करुण हो कर बोली—'दोनों आँखों से आँसुओं की धार बँधी थी।"

चन्द्रसेन सिर उठा कर उस की ओर देखने लगा, फिर उस ने आँखें स्थिर करके पूछा—'भाभी, तुम ने उसे रोते देखा था?'

चम्पा ने कहा—'हाँ, इधर से ही उस की कार गई थी—खिड़की पर सिर टेके थी, आँखें मुँदी थीं। और आँसू बह रहे थे अभागिन के।'

× × ×

तहसीलदार के लड़के की शादी थी। रामचन्द्र को जाना पड़ा। चलते-चलते चम्पा को समझा गए कि चन्द्रसेन को कहीं जाने न देना। कल दोपहर तक मैं जरूर लौट आऊँगा। शाम को उस की शुद्धि करनी है। खाना बना कर खिला देना।

चम्पा इस बात का ध्यान रक्खे रही। खाना खिला गई और पढ़ने को दो किताबें दे गई। दुपहरिया में फिर दो बार आ कर देख गई— चन्द्रसेन गाढ़ी नींद सो रहा था।

शाम को जब सूरज ढलने लगा तो वह घर के काम-काज में लग गई। नौकरानी का पेट पिरा रहा था, वह न आई तो चम्पा ने सारे बरतन माँजे-धोये। सब जगह सफाई की, फिर चूल्हे में आग सुलगा कर चन्द्रसेन के पास आई कि क्या खायेंगे इस बेला।

पर बैठक में घुसी तो 'सनाका' हो गया। चन्द्रसेन नहीं था।

चम्पा दौड़ कर पिछवाड़े की खिड़की पर पहुँची—खँडहर सूना पड़ा था। वह बहुत घबराई, बहुत चिन्तित हुई। कृष्णा को भेज कर बबुआ को बुलवाया। वह चारों ओर चन्द्रसेन को ढूँढ़ता फिरा और रात को नौ-दस बजे पस्त हो कर लौट आया। अभागे चन्द्रसेन को नहीं ढूँढ़ पाया।

चम्पा सारी रात चिन्ता से जग-जग उठी और सारी रात घबराती रही।

× × ×

सुबह को उसकी आँख लगी थी। पर जाने कैसा शोर-गुल गली में मचा था। चम्पा की नींद टूट गई।

एक लड़का भीतर भागता आया। हाँफ कर बोला—'ताऊजी कहाँ हैं?'

चम्पा ने डर कर पूछा—'क्यों?'

लड़के ने आँखें फाड़ कर कहा—'चन्द्रसेन मर गया!'

चम्पा की आँखों के आगे अँधेरा छा गया। सिर थाम कर बैठ गई।

उन्हीं ईंटों के ढेर पर टूटी दीवारों के पास, डाक्टर साहब की बन्द खिड़की के नीचे, चन्द्रसेन जमीन में सिर दिये औंधे मुँह पड़ा था। ईंटों के ऊपर रक्त गिरा था जहाँ-तहाँ।

भीड़ इकट्ठी हो गई। सब एक-दूसरे से पूछने लगे—'कैसे मर गया?'

खँडहर की भग्न दीवारों ने और ईंटों ने सब दृश्य देखा था। वे सब 'आह' खींच कर धीरे से बोले—'सिर पटक-पटक कर मर गया अभागा।'

चम्पा खूब फूट-फूट कर रोई। रामचन्द्र भी आ गए थे। वे भी रोये। सभी को दुख लगा—सभी ने रंज मनाया।

फिर सब मिल कर चन्द्रसेन की लाश को 'मसान' में जला आए।

दूसरे दिन फिर अचानक बस्ती में खबर फैली कि डाक्टर सहब की लड़की मुन्नी अपनी ससुराल में जहर खा कर मर गई।

चंपा

बहुत दिन पहले की घटना है। पहाड़ी की तलहटी में एक छोटा-सा राज्य था। राज्य में जो कुछ होता है, सब था; लेकिन बहुत छोटे पैमाने का। राजा थे, राजा की रानी भी थी। महल था, सेना थी, दरबारी भी थे। नहीं था तो बस एक युवराज। राजा के पुत्र नहीं था, एक पुत्री थी, उस के बाद फिर कोई सन्तान पैदा नहीं हुई।

राजा की बेटी का नाम था चम्पारानी। रानी को चम्पा के फूलों से बड़ा प्रेम था। महल में, महल के आस-पास बाग-बगीचों में चम्पा के पौधे लगे थे, उन पर असंख्य फूल खिलते, फूलों की गन्ध से हवा भर उठती, रानी का हृदय विह्वल हो जाता।

इसी से जब कन्या का जन्म हुआ, राजा ने उस का नाम रक्खा चम्पारानी। यह नाम रानी को बहुत प्रिय लगा......।

चम्पारानी के जन्म-दिवस पर राज्य में बड़ा भारी उत्सव होता था। उस दिन लोग 'चम्पा के फूलों' से भरी डालियाँ राजकुमारी को भेंट करते। राजा की आज्ञा थी।

इन जन्म-दिवसों के साथ-साथ चम्पारानी की अवस्था बढ़ती गई, अवस्था के साथ सौन्दर्य बढ़ा, सौंदर्य के साथ 'रूपश्री' बढ़ी।

कल तक वह छोटी बच्ची थी—आज किशोरी हो गई थी। फिर क्रमशः उषाकाल की पद्म-कलिका के समान नवयौवन की लालिमा मुख पर खिल उठने लगी।

—२—

यह सोलहवाँ जन्म-दिवस था। खुले दरबार में राजा-रानी के बीच

राजकुमारी चम्पा शुभ्र वस्त्र परिधान किये माँ अन्नपूर्णा की तरह सिंहासन पर बैठी थी।

नीचे चाँदी की छोटी-सी चौकी धरी थी। चौकी पर राजकुमारी के रक्त कमल-से छोटे-छोटे दोनों चरण विराजमान थे। छोटे दर्जे के लोग इन्हीं चरणों पर अपनी भेंट चढ़ा रहे थे। राजा की आज्ञा थी।

स्वच्छ सरोवर में सहस्र दल के समान, गोदी में दोनों सुकुमार हाथ रक्खे राजकुमारी बैठी थी। जब कोई प्रजाजन आकर भेंट चढ़ाता, वह उसकी ओर देख कर मुस्कुरा देती। राज्य के बड़े लोग इन्हीं, यज्ञ की धूप के समान पावन, देवता के प्रसाद के समान अप्राप्य, करकमलों में अपनी भेंट धर देते थे। राजा की आज्ञा थी।

शरद्ऋतु के पूर्ण चन्द्र-सा राजकुमारी का अनिन्द्य आनन था—उसकी छवि अवर्णनीय थी। उस मुख की ओर किसी को दृष्टि जमा कर देखने का साहस नहीं होता था—राजा की बेटी, राजकुमारी चम्पारानी! उसका सौन्दर्य स्वर्गिक है, किसी साधारण जन की दृष्टि पड़ने पर कलुषित हो सकता है।

शंख के समान चम्पा की ग्रीवा थी। ग्रीवा में 'चम्पा के फूलों' के हार झूल रहे थे। हार राज्य के उच्च कर्मचारी पहना रहे थे। राजा की आज्ञा थी।

राजकुमारी छोटे-बड़े सब की भेंट-पूजा सिर झुका कर, लाल ओठों से तनिक-सा मुस्कुरा कर, स्वीकार कर रही थी।

इसी समय एक अजीब बात हुई। पूजा करने वालों के बीच से एक युवा आगे बढ़कर आया। वह 'पूजा की माला' हाथ में लिये राजकुमारी के सामने आ खड़ा हुआ; और राजकुमारी के मुख को देखने लगा। राजा और रानी चौंके। मन्त्री घबड़ा उठा। राजकुमारी के ओठों की हँसी रुक गई।

मंत्री दौड़ कर पास आये, कहा—'चढ़ाओ-चढ़ाओ!'

युवा आगे बढ़ा, लेकिन यह क्या !

वह अपनी 'माला' राजकुमारी के हाथों में धरने लगा। राजा-रानी चौंके। मन्त्री घबड़ा उठा। राजकुमारी की हँसी रुक गई।

मन्त्री ने रोक कर कहा—'तुम बड़े असभ्य हो!" फिर इशारे से कहा—'चरणों में।'

पर निर्भीक युवा ने उधर कान न दिया, उसने अपनी माला सचमुच ही राजकुमारी के कर-कमलों पर धर दी। बहुत बड़ी गड़बड़ हुई! राजा की हुक्म-उदूली! मन्त्री ने क्रुद्ध होकर पूछा—'तुम कौन हो जी?'

माला राजकुमारी के हाथों में धरी रही।

युवा ने कहा—'मैं परदेशी हूँ। यहाँ से कई सौ मील दूर मेरा गाँव है। वहाँ के राजा का मैं एक नौकर हूँ। देशाटन करने निकला हूँ।'

फिर उसने संक्षेप में अपने राजा की रीति-रिवाज बतला कर कहा—'हमारे यहाँ राजा की पूजा-माला अपने हाथ की बनी चीज होती है। सुनार सोने की माला बनाता है—लुहार लोहे की—बढ़ई काठ के फूलों की—।'

सब को बड़ा अचम्भा हुआ।

युवा ने कहा—'और सब लोग अपनी मालाएँ राजा के गले में ही डालते हैं, चाहे छोटा हो चाहे बड़ा।'

सब लोग सुनते रहे।

और उसने कहा—'मेरी यह माला मेरे हाथ की बनी है, अपने हाथ से ये फूल मैंने बनाये हैं, अपने हाथ से उन्हें सुवासित करके गूँथा है'—

सब लोग अवाक् रह गये, फूल हाथ से बनाये हैं!

राजा ने हाथ बढ़ा कर माला उठा ली, रानी झुक कर देखने लगीं। मन्त्री ताकते रहे।

सचमुच—सचमुच, ये फूल कपड़े के हैं। लेकिन कैसे बनाया है इन्हें? बहुत कला-पूर्ण हैं।

राजा ने माला राजकुमारी के हाथों में लौटा दी और युवा की ओर देखकर बोले—'मालाकार, हम तुम्हारी इस भेंट से बहुत प्रसन्न हुए हैं।'

फिर खजाञ्ची की ओर देख कर हुक्म दिया—'इन्हें पारितोषिक दो !'

युवा ने अभिवादन किया।

राजकुमारी ने 'माला' उठा कर अपने हाथों से ग्रीवा में पहन ली। देख कर युवा मुस्कुरा उठा। राजकुमारी के मुख पर लज्जा की लाली दौड़ गई।

—३—

गोधूलि बेला थी। राजा के महल की अटारी को छूकर सूर्य नीचे खिसक गया था। महल के पिछवाड़े राजा का सुन्दर उद्यान था, उद्यान में अनेक तरह के फल-फूलों के वृक्ष थे, लताएँ थीं—कुञ्ज थे।

उद्यान शान्त हो रहा था और ऊँचे वृक्षों की चोटियों पर सुनहली किरणों का जाल फैला था। धीमी हवा बह रही थी, हवा से सद्यःविकसित कलियाँ झूम रही थीं।

ऐसे सुहावने समय में राजकुमारी घूमने आई थी। घूमती-घूमती उद्यान की चहारदीवारी के पास आ पहुँची। राजकुमारी खड़ी रहकर किनारे से निकलते प्रजाजनों को देख रही थी कि ऊपर से एक फूल चू कर उसके पैरों के पास आ गिरा। राजकुमारी ने उठा कर सूँघा—कैसी मोहक गन्ध है ! चम्पा का फूल है न !

गले में वही 'मालाकार' की माला पड़ी थी। राजकुमारी को जाने क्या ध्यान आया, माला को ऊपर करके सूँघने लगी। लेकिन कुछ नहीं—कोई गन्ध नहीं !— गन्ध जाने कैसे उड़ गई ! और मालाकार के हाथ के बनाये फूलों का रंग भी चला गया था ! तब राजकुमारी ने माला गले से निकाल ली।

उसी समय देखा, सामने राजपथ पर युवा मालाकार चला जा रहा है। राजकुमारी के मुँह से अनायास पुकार निकल गई—'मालाकार !'

मालाकार आया, अभिवादन करके चहारदीवारी के उस पार राजकुमारी के सामने खड़ा हो गया।

राजकुमारी ने कहा—'तुम्हारी माला की सुरभि तो उड़ गई, मालाकार तुम्हारी माला के फूल, ये काले क्यों पड़ गये?'

युवा ने कहा—'राजकुमारी, हाथ की बनी माला और कब तक स्थिर रहती?—आप की बाटिका के पुष्प तो एक दिन में ही सूख जाते हैं। मेरी माला और कब तक नवीन रहती?'

फिर वह राजकुमारी के चन्द्रानन पर दृष्टि स्थिर करके मुस्कुराने लगा। राजकुमारी ने लाज से पलक गिरा लिये और धीरे से कहा—'एक और माला मुझे दोगे?'

'वैसी माला तो और मेरे पास नहीं है राजकुमारी, वैसी माला मैं यहाँ बना भी नहीं सकता—एक और माला मेरे पास है, आज्ञा हो तो उसे भेंट करूँ—' युवा ने कहा।

राजकुमारी ने कौतूहल में भर कर पूछा—'वह माला कैसी है मालाकार, उसे तुमने किस चीज से बनाया है, क्या मोतियों से?'

'मोतियों से!—हाँ, मोतियों से बनाया है राजकुमारी, पर वे मोती सागर के नहीं हैं। वे मोती मेरे हृदय-सीप के हैं—वे बहुत वैसे मोती हैं! लोगी राजकुमारी?—तुम यह माला स्वीकार कर सकोगी!'

राजकुमारी ने सिर से पाँव तक काँप कर अपना मुख नत कर लिया। कुछ भी नहीं कह सकी।

—४—

चम्पारानी के शयन-कक्ष में दक्षिण ओर एक खिड़की है। खिड़की के नीचे कदम्ब का वृक्ष है, उसकी सुन्दर डालें खिड़की पर झुक आई हैं, मानो झाँक कर भीतर का दृश्य देखना चाहती हैं।

खिड़की खोल कर राजकुमारी अपनी कोमल शैय्या पर लेटी थी।

शुक्लपक्ष की रात्रि थी, चन्दा उग आया था, उसकी एक भूली-भटकी रश्मि कदम्ब की डालियों से उलझ कर यहाँ भीतर आ पड़ी थी।

राजकुमारी लेटी-लेटी सोच रही थी—युवा मालाकार की बातें—उत्सव के दिन का दृश्य—चहारदीवारी के पार, 'लोगी राजकुमारी ? तुम यह माला स्वीकार करोगी ?'

राजकुमारी दुग्ध-धवल शैय्या पर लेटी-लेटी अपने आप से कहने लगी—'वे मोती मेरे हृदय-सीप हैं—वे बहुत वैसे मोती हैं !'

कदम्ब की डाल पर से ध्वनि आई—'हाँ राजकुमारी, मेरे हृदय-सीप की मोती—'

राजकुमारी तड़ित्वेग से उठ बैठी, खिड़की पर मुख रख कर पुकारा—'कौन ? मालाकार ?'

कदम्ब की डाल पर से ध्वनि आई—'हाँ, राजकुमारी !'

'तुम यहाँ आये हो ?—इस बेला ?'

'हाँ, राजकुमारी !'

'क्यों तुम आये हो मालाकार ?'

'माला अर्पण करने राजकुमारी !'

—राजकुमारी मौन हो गई।

'राजकुमारी !'

'हाँ, मालाकार !'

'यह माला स्वीकार करोगी ?'

राजकुमारी मौन हो गई। महल के सिंहद्वार पर प्रहरी पुकार उठा; घड़ियाल ने प्रहर बीत जाने का समयघोष किया। फिर निस्तब्धता छा गई।

तब राजकुमारी ने धीमे स्वर में कहा—'मालाकार, तुम जाओ।'

'परन्तु माला—?' कदम्ब से ध्वनि आई।

'माला !—'राजकुमारी ने खिड़की पर झुककर कहा—'फिर कहूँगी।'

—५—

वही कदम्ब की डाल—वही खिड़की ! युवा मालाकार की रोज ही राजकुमारी से भेंट होती, रोज ही बातें होती—कितनी ही मधुर बातें होतीं ……!

युवा मालाकार ने कहा—'अब तो माला स्वीकार कर लो राजकुमारी !' —राजकुमारी नित्य की तरह मौन हो गई ।

युवा कहने लगा—'आज मैं निर्णय चाहता हूँ । यदि मेरी माला अस्वीकार हो तो सूर्य्योदय से पूर्व ही यह राज्य छोड़ कर चला जाना चाहता हूँ । अब मुझ से प्रतीक्षा नहीं होती ।'

'कहाँ चले जाओगे ?—राजकुमारी ने दुख-भरे स्वर में पूछा ।

'अपने देश लौट जाऊँगा । मेरा देश ! वहाँ कितनी सुख-शान्ति है; कितना आनन्द-उच्छ्वास है ! बहुत दिन छोड़े हो गये ।'

रामकुमारी ने हौले से कहा—'मालाकार !'

'हाँ राजकुमारी !'

'तुम्हारी माला का मूल्य बहुत है मालाकार, जानते हो ! उसके बदले में मुझे अपना सर्वस्व देना होगा !'

'राजकुमारी !—मालाकार ने करुणा-विनती से कहा—'क्या मैं इस योग्य नहीं समझा गया हूँ ?'

'मालाकार, मेरे पिता 'राजा' हैं । मैं राजा की बेटी हूँ । तुम्हें सर्वस्व देकर 'राजा' का अपमान करूँगी । पिता को 'पीड़ा' दे कर 'सुख' नहीं पा सकूँगी, मालाकार !'

—मालाकार चुप हो गया !

तब राजकुमारी हौले से, बहुत ही अस्पष्ट शब्दों में कह उठी—'यदि तुम भी राजकुमार होते—!'

मालाकार ने सुन लिया; उसने कहा—'राजकुमारी, मैं यह बात जानता था, पर मैंने सोचा था कि अभी तुम से वह 'रहस्य' न कहूँ, मैं

पीछे से सब सुना कर तुम्हें 'सुखित' करना चाहता था। राजकुमारी, माला तो मेरी तुम ने अस्वीकार नहीं की है। पिता के अपमान की आशङ्का भी अब मत करो। अब मैं छिपाऊँगा नहीं, तुम 'सुखित' होओ राजकुमारी, मैं 'मालाकार' नहीं—राजकुमार हूँ!'

'राजकुमार!'—चम्पारानी ने चौंक कर कहा।

'हाँ, राजकुमारी, राजकुमार—मैं अपने छोटे-से राज्य का 'राजा' हूँ। वेष बदल कर, तुम्हारी 'पूजा' करने—'प्रसाद' पाने की इच्छा से आया था।'

राजकुमारी उठ कर बैठ गई, स्नेह-भरे कण्ठ से बोली—'तब तुम मेरी परीक्षा लेने आये थे राजा?'

राजकुमार ने उसी तरह उत्तर दिया—'नहीं राजकुमारी, मैं सचमुच तुम्हें 'अर्घ्य' देने आया था।'

पर राजकुमारी ने उधर ध्यान ही न दिया। विद्रुम जैसे लाल ओठों से तनिक-सा मुस्कुरा कर, ग्रीवा टेढ़ी करके कह दिया—'छलिया!'

—६—

'इतनी दूर मैं कैसे चल पाऊँगी?'

'मेरे पास घोड़ा है।'

'धूप से देही झुलस जायगी!'

'मैं छाया किये रहूँगा।'

'राह में प्यास से गला सूख जायगा!'

'मैं पानी तलाश कर लाऊँगा।'

'तन पर धूल छा जायगी!'

'मैं अपनी पगड़ी से पोंछ दूँगा।'

'रात पड़ जायगी तो कहाँ सोऊँगी?'

'मेरी गोदी में सो जाना।'

'जङ्गल में सिंह-हाथी होंगे!'

'मेरे पास शस्त्र है।'

अब कोई बात नहीं रही, फिर भी राजकुमारी ने कहा—'राजा, अभी कुछ दिन यहीं रहो न ! शरद् ऋतु आने पर तुम्हारे राज्य में चलेंगे।'

'नहीं राजकुमारी',—राजकुमार ने कहा—'अब और नहीं रहा जा सकता; राज्य में अव्यवस्था हो रही होगी।'

राजकुमारी मौन हो रही।

राजकुमार ने विनती से कहा—'राजकुमारी !'

'हाँ, राजा !'

'चलोगी न ?'

'चलूँगी राजा !'

× × ×

—बहुत दूरी थी। पर इतनी लम्बी राह खेल-खेल में ही कट गई। राजकुमारी को कष्ट का पता नहीं लगा। दिन भर चलते रात को किसी जगह एक-दूसरे की गोदी में सिर रख कर सो रहते। भूख लगती तो फल तोड़ कर खा लेते। प्यास लगती तो नदी-नाले का जल पी लेते। बहुत दिन लग गये, तब कहीं जा कर अपने राज्य की सीमा आई। राजकुमार खुश था; राजकुमारी और भी अधिक खुश थी।

—७—

यह राज्य उससे भी छोटा था। कुछ चीजें थीं, कुछ नहीं थीं। राजा का प्रबन्ध जाने कैसा था, प्रजा जाने कैसी थी, सब ओर 'हाय तोबा'—सी मची रहती। दिन-दहाड़े चोरी हो जाती, डाके पड़ जाते; राजा को पता ही नहीं चलता। राज्य-कर्मचारी अन्याय से 'कर' वसूल करते, सेनापति सताता, कोई उन्हें रोकनेवाला नहीं था। राजा बेखबर थे।

राजा की अवस्था थोड़ी है। वह बहुत रूपवान् है, पर बुद्धि वैसी नहीं है। देखने पर 'देवता'-सा लगता है; पर मन वैसा नहीं है। उसकी

प्रकृति अजीब है। उसे राज्य की चिन्ता नहीं—प्रजा की फिक्र नहीं। वह केवल अपने राग-रंग में मस्त रहता है—शिकार खेलता है। दूर-दूर से सुन्दर से सुन्दर नवयुवतियों की तलाश करके महल की शोभा बढ़ाता है। उसकी बहुत-सी रानियाँ हैं—सब सुन्दरी हैं, सब अनुपम हैं······!

राजकुमारी चम्पा यह सब कुछ नहीं जानती। वह बहुत खुश थी। उसे राजा ने अपने हृदय-सीप के मोतियों की माला जो दी है!—साधारण बात नहीं है। राजकुमारी का सर्वस्व उसी माला के बदले बिक गया है। फिर भी वह खुश थी।

······महल के ऊपरी भाग में एक सुन्दर-सी श्वेत संगमरमर की अट्टालिका थी। उस अट्टालिका में प्रधान 'रानी' रहती है।

अब तक जो रहती थी, उस के लिए राजा की आज्ञा हुई है—वह नीचे के महल में आ जाय! नीचे—जहाँ बहुत-सी और रानियाँ इसी तरह एक-एक करके ऊपर से उतर कर आ गई हैं!

प्रधान रानी ने अपनी भृकुटी चढ़ाकर पूछा—'क्यों?'

संदेश-वाहिका ने कहा—'तुम्हारी यहाँ रहने की अवधि पूर्ण हो चुकी है; अब यहाँ नई 'महारानी' रहेंगी······।'

राजकुमारी चम्पा को कुछ नहीं मालूम। वह संगमरमर की शुभ्र अट्टालिका में आ रही। ओह! कितना सुख है!—चारों ओर श्वेत-श्वेत!

राजा थोड़ी-थोड़ी देर बाद आते, आ कर पूछ जाते—'कुछ कष्ट तो नहीं है?'

राजकुमारी सुख में डूब कर कहती—'नहीं राजा!'

रात को राजा यहीं रहते। चन्द्रमा की ज्योत्स्ना छिटकी रहती। तारे टिमटिमाते रहते। राजकुमारी चम्पा राजा के वक्षस्थल पर सिर रक्खे उन से दुनियाँ के सुख-सन्तोष की बातें सुनती, सुन कर आश्चर्य से कहती—'अच्छा!'

और रात कट जाती।

—८—

यहाँ भी उद्यान था। पर उस में चम्पा के पेड़ नहीं थे। जाने किस देश से वे फूल-पौधे ला कर लगाये गए थे। उन पर तरह-तरह के सुन्दर फूल खिलते—फूलों से उद्यान आलोकित हो उठता पर उन फूलों में सुगन्ध न आती—जाने कैसे फूल थे...!

...सूर्यास्त के बाद—राजा के आने की बात थी। राजकुमारी का राजा के बिना जी नहीं लगता। अपनी 'अटारी' से उतर आकर उद्यान में घूमने चली आई थी। फूलों पर मुख रख-रख कर सूँघती फिरती थी—हाय, किसी में खुशबू नहीं! ये ऐसे पौधे राजा ने क्यों पसन्द किये हैं? चम्पा का एक भी पेड़ नहीं। राजकुमारी ने मन ही मन सोचा—आज जब राजा आयेंगे तो वह उनसे चम्पा के पेड़ के लिए कहेगी। वह अपने हाथ से इस उद्यान में चम्पा का पेड़ लगायेगी, जब उस पर फूल खिलेंगे तो माला गूँथ कर राजा को पहनायेगी।

—कि पास के घने कुंज में, ऐसा लगा कि कोई धीरे-धीरे बोल रहा है। राजकुमारी कान लगा कर सुनने लगी—

जाने किसने कहा—'उसे ब्याह कर लाये हो?'

'नहीं रानी!'—किसी ने उत्तर दिया।

—अरे, यह तो राजा का स्वर है!

'तो मेरे लिए 'सौत' लाये हो?'

'नहीं रानी!'

अरे, यह क्या उसी के लिए कहा जा रहा है?

'फिर वह कौन है?'

'वह—'—राजा ने कहा—'वह कोई नहीं, वह एक गरीब की लड़की है। अनाथ थी, इसी से मैं उसे लेता आया हूँ।'

—ऐं!

राजा ने और कहा—'रानी, तुम नाराज़ मत होओ, वह तो केवल तुम्हारे लिए लाया हूँ। तुम्हारे लिए एक सुन्दर-सी दासी चाहिए थी न!—वह तुम्हारी सेविका है रानी, वह तुम्हारे बच्चे को खिलाया करेगी, न रानी...?'

राजकुमारी चम्पा के होश उड़ गए। अब और उससे सुना नहीं गया। भाग आई।

—६—

रात को राजा आए। पर राजकुमारी ने उन से एक शब्द भी नहीं कहा।

राजा ने पूछा—'तुम्हारा जी अच्छा नहीं है क्या?'

'हाँ।'—राजकुमारी ने बड़ी कठिनता से कहा।

'तो सो जाओ।'

राजा को नींद आ गई। राजकुमारी जागती रही। हाय, अब वह क्या करे?

× × ×

बाजार के एक किनारे पर 'विष' की दूकान थी। राजकुमारी उसी दूकान के आगे आ खड़ी हुई।

और अपनी नाक का 'बेसर' उतार कर दूकानदार के आगे रख दिया, फिर करुणाभरी विनती से कहा—'दूकानदार भैया, तुम हमें इस बेसर का विष दे दो!'

'विष?'—बनिये ने कहा—'विष का क्या करोगी बेटी?'

राजकुमारी ने हौले से कहा—'भैया, मुझे जरूरत है।'

तब बनिये ने कहा—'बेसर का विष नहीं मिलता; विष पैसों से बिकता है।'

अब क्या हो?—राजकुमारी की आँखों से आँसू बहने लगे, रोने लगी!

बनिये को दया आ गई राजकुमारी के मुरझाये कमल के समान मुख की ओर देख कर, उसने बेसर के मूल्य का विष दे दिया।

—१०—

राजकुमारी ने स्वर्णपात्र में वह विष घोला; घोल कर पी गई!—

और कोई उपाय नहीं था। वह 'राजा की बेटी' थी। वह अपमान नहीं सह सकती थी; न वह अपने 'पिता' को कलंकित कर सकती थी; न वह राजा से लड़ सकती थी। और कोई उपाय नहीं था।

राजकुमारी ने स्वर्णपात्र में वह विष घोला; घोल कर पी गई!—

× × ×

रात को राजा आये। राजकुमारी दुग्धधवल शैया पर स्वच्छ परिधान पहने सो रही थी। सब निष्कलंक है!

राजा ने पास बैठ कर प्यार से पुकारा—'रानी!'

उत्तर नहीं आया।

'रानी! चम्पा रानी!'

उत्तर नहीं आया।

'रानी! अरे, आज तुम्हें बड़ी गहरी नींद आई है!'

उत्तर नहीं आया।

राजा को संशय हुआ। झुक कर देखा, स्पर्श किया, हिलाया-डुलाया। सब शान्त है—सब शान्त है।

—११—

थोड़े दिनों बाद राजकुमारी के पिता ने सेना ले कर चढ़ाई की। युवा राजा की सेना अव्यवस्थित थी; सेनापति मद में था। राजा हार गए। राजकुमारी के पिता ने राजा को पकड़ लिया। वे उसका 'सिर' काट ले गए। राज्य लूट लिया।

× × ×

यह बहुत दिन पहले की कथा है। तब से जाने कितने परिवर्त्तन हो

चुके हैं। पर राजकुमारी चम्पा रानी की वह 'करुण कथा' राज्य में उसी तरह गूँज रही है......। प्रति वर्ष जब वर्षा-ऋतु आती है। आकाश मेघाच्छन्न हो उठता है, चन्दा-तारे छिप जाते हैं, तो राज्य भर में, घर-घर हिंडोला डाल कर, बालों में 'चम्पा' के फूल लगा कर लड़कियाँ झूला झूलती हैं और 'राजा की बेटी' की करुणाभरी कहानी गाती जाती हैं।

उस कहानी को सुन कर बादल गरजते हैं, आसमान रोता है, पवन काँपता है और वसुधा प्लावित हो उठती है।

कागज के टुकड़े

शान्ति को सभी चाहते थे। पास-पड़ोस के और नाते-रिश्ते के सभी नवयुवक कामनाभरी दृष्टि से उसे देखते थे। कहने में यह बात सच-सी नहीं लगती, पर जिन्होंने कभी एक नजर भी उसे देखा था वे जानते थे कि वास्तव में गुलाब के फूल-सा उसका चेहरा है—गुलाब के फूल की तरह उसकी सब देही है। ऐसे सौन्दर्य पर कौन मुग्ध न होगा?

पर कुमुदनाथ ने तो मानो चेतना खो दी थी। रूप पर तो सभी रीझते हैं, लेकिन अपने को भूल कर नहीं। कुमुदनाथ शान्ति पर इसी तरह बलिहार हुआ था—वह पागल-सा हो गया था।

औरों की कामना रहती—शान्ति को देखने की, उससे दो बातें करने की, उसका बोल सुनने की या उसे 'प्रेमिका' रूप में पाने की, उसे पत्नी बनाने की। परन्तु कुमुदनाथ की कोई कामना न थी, कोई कामना न थी। वह उसे इतना अधिक प्रेम करने लगा था कि 'प्रतिदान' की बात भी भूल गया था। शान्ति सामने आती तो उसकी नजर न उठती। वह कोई बात पूछती तो जवाब नहीं दे मिलता—मुँह पर पसीना आ जाता। जैसे देवता के सम्मुख भक्त की दशा होती है—जैसे देवता के प्रति हृदय में अतिशय उच्च भावनाएँ और महती श्रद्धा-भक्ति रहती है। वह तो मानो दिन और रात शान्ति की आराधना करता था।

शान्ति ने कभी उसका निरादर न किया—कभी उससे उपहास या विद्रूप की कथा नहीं कही। पर क्या वह कुमुदनाथ को अपने हृदय में स्थान देगी? क्या कुमुदनाथ की तरह विह्वल होकर उन्मना रहेगी? कुमुदनाथ ने यह कभी विश्वास न किया। वह सोचता—मैं उसके योग्य

नहीं हूँ। उसके योग्य कभी नहीं हो पाऊँगा। वह जैसे 'राजरानी' है—मैं जैसे पथ का 'भिखारी' हूँ......! इसी तरह न जाने कितने दिन निकल गए कि अचानक एक खबर मिली—कुमुदनाथ के साथ शान्ति का ग्रन्थि-बन्धन होगा। कुमुदनाथ तो सहसा विश्वास नहीं कर सका था। पर शान्ति ने प्रसन्नताभरी लज्जा में डूब कर उससे बोलना बन्द कर दिया, उससे छिपी-छिपी रहने लगी। सामना हो जाता तो शरम से लाल हो जाती—मुँह फेर लेती, किसी सहेली की आड़ में होकर निकल जाती।

तब समवयस्कों ने आपस में कहा—'वह सदा से कुमुदनाथ को प्रेम करती है। कुमुदनाथ बहुत भाग्यवान् है!'

सखी-सहेली कुमुदनाथ की चर्चा करके शान्ति को शरमातीं। वह सचमुच शरमा जाती—बातों का जवाब न देती। उसने कुमुदनाथ का नाम लेना छोड़ दिया।

कुमुदनाथ अपने से बार-बार पूछता—'सच ? क्या शान्ति मुझसे सदा से प्रेम करती है ? सच ? पर हृदय जैसे विश्वास न करता...।'

फिर एक दिन साहस करके पूछ लिया। और जाने कैसा होकर वह कोठरी में बैठ कर प्रतीक्षा करने लगा। गरमी की छुट्टियों के दिन थे। दोपहरी हो चुकी थी। घर में सन्नाटा-सा छाया था। सब सोये पड़े थे। अभी थोड़ी देर पहले वह शान्ति के आगे लिफाफा फेंक आया है, उसमें चिट्ठी है, चिट्ठी में उसने लिखा है!

अब वह लिफाफा खोल कर पढ़ रही होगी...!

सहसा दरवाज़े के पास छाया देख कर कुमुदनाथ ने सिर उठाया। दिल में धक्-से हो गया—शान्ति का आधा छिपा मुख दीख रहा था। वह तड़ित् वेग से उठ बैठा।

शान्ति ने मृदुमन्द कण्ठ से कहा—'पेंसिल चाहिए।'

कुमुदनाथ ने पास रक्खी पेंसिल उठा कर धीरे से उधर फेंक दी। शान्ति ने झुक कर पेंसिल ले ली और चली गई...।

कुमुदनाथ अर्ध-विक्षिप्त-सा अपने आप से प्रश्न करने लगा—'सच ? मेरी चिट्ठी का जवाब लिखेगी वह ? सच ?' पर हृदय जैसे विश्वास न करता ।

कुमुदनाथ मानो बहुत दूर—आसमान के बीच, बादलों से चिपटा उड़ता चला जा रहा था । एक ओर कि खट् करके पैरों के पास पेंसिल आ गिरी ।

शान्ति दरवाजे पर खड़ी थी सिर डाले । दोनों हाथों के बीच एक कागज था और आँखें जमीन पर लगी थीं । कुमुदनाथ आकुल हृदय से उधर देखने लगा ।

'—लाओ, चिट्ठी मुझे दो !'

एक मिनिट—दो मिनिट—दस मिनिट । शान्ति खड़ी रही—खड़ी रही । कुमुदनाथ देखता रहा ।

फिर धीरे-धीरे शान्ति ने उस कागज को फाड़ दिया । उसके टुकड़े करने लगी । कुमुदनाथ देखता रहा । चिट्ठी के टुकड़े होते गये, फिर होते गये । जब निरी चिन्दियाँ हो गईं तो उन्हें हाथ से नीचे गिरा दिया । बिना एक शब्द बोले, धीरे-धीरे वहाँ से चली गई······।

···इस घटना को, इन बातों को हुए अब एक युग-सा हो गया । वह बीते हुए जमाने की एक दर्दभरी याद है । शान्ति की एक युवक से शादी हुई । अब उसके दो सन्तान हैं । कहीं, किसी देशी रियासत में, उसके पति सर्विस करते हैं । शायद बहुत सुख से दोनों की जिन्दगी कट रही है ।

कुमुदनाथ की शादी नहीं हुई । शान्ति के साथ तो हो ही नहीं सकती थी—उतना भाग्यबल कुमुदनाथ का नहीं था, परमात्मा इतना अन्याय और अत्याचार कैसे देख सकते थे । पर और कोई भी 'जीवन-संगिनी' उसे नहीं मिली । अनेक उलझनें आती गईं और ठहरी-ठहरी शादियाँ उसकी टूटती गईं । और अब शायद वह शादी नहीं करेगा ।

वह 'पत्नी' पाने के लिए तनिक भी उत्सुक नहीं है वह 'अकेला' रह लेगा।

जीवन बहुत ही कीमती है। भोग-विलास और गृहस्थी का सुख ही आदमी का लक्ष्य नहीं है। ज्ञानोपार्जन करके युग-युग की प्यासी अतृप्त आत्मा को सुख-शान्ति मिलेगी। तन, मन, धन से दूसरों की सहायता करके जीवन सफल होगा। मनुष्य का प्राप्तव्य यही है— ऐसी-ऐसी धारणाएँ कुमुदनाथ ने बना रक्खी हैं और वह उत्साह से अपने काम में लगा है।

पर फिर भी जैसे मन के गोपन-अन्तराल में कहीं एक छाया रह गई। हाय, वह शान्ति को कैसे भुलायेगा? अपनी चिट्ठी के उत्तर में शान्ति ने जो लिखा था सो जानने से पहले ही नष्ट हो गया। अगर एक बार उस उत्तर को पढ़ पाता······!

फटे हुए कागज के वे टुकड़े उस दिन कुमुदनाथ ने उठा लिये थे। वे कागज की चिन्दियाँ आज तक उसने अपने बक्स में सुरक्षित रक्खी हैं और शायद सारी जिन्दगी उन्हें यों ही कलेजे से लगाये रहेगा। हाय, और तो कुछ भी नहीं है······।

अनेक दिन, अनेक बार कुमुदनाथ ने सब काम छोड़ कर उन टुकड़ों को बहुत सँभाल कर लिफाफे से निकाला है और सामने फैला कर एक-एक टुकड़ा उठा कर पढ़ा है और घण्टों अविश्रान्त भाव से उन टुकड़ों को पास-पास रख कर जोड़ने की कोशिश की है! हाय, कभी उस कागज का एक ही किनारा पूरा हो जाय! शान्ति के हाथ का लिखा एक ही वाक्य पढ़ने को मिल जाय!

पर कागज की रत्ती-रत्ती भर की चिन्दियाँ आपस में कभी न मिलतीं, पेंसिल से लिखे अक्षर कभी एक न होते। बहुत प्रयत्न करके कुमुदनाथ केवल पढ़ पाता—तुम······मैं······हम······ईश्वर······उस समय दर्द

से छाती फटने लगती, कलेजे में सुइयाँ चुभतीं। कुमुदनाथ आकुल होकर जमीन पर लेट जाता······।

वह कभी भी शान्ति के लिखे उस पत्र को नहीं पढ़ सका। तब बुद्धिमान् की तरह सोचता—इन दुखदाई कागज के टुकड़ों को रख कर क्या होगा, इस बेकार-सी चीज को कूड़े में फेंक दो कुमुदनाथ! तुम इन टुकड़ों को कभी न पढ़ पाओगे। फेंक दो कुमुदनाथ, अब तो इन रक्त की प्यासी चिन्दियों को फेंक दो!

पर किसी भी दिन वैसा नहीं हो सका। जाने कितनी प्रत्याशा और कामना से वह उन टुकड़ों को एक-एक करके बहुत जतन से उसी लिफाफे में भरता और बक्स में सँभाल कर रख देता।

शान्ति के फिर और दर्शन न हुए। कभी भी उसे नहीं देख सका। उसकी एक बात तक सुनने को नहीं मिली।

मस्तिष्क कहता—अब तक वह तुम्हें सम्पूर्ण रूप से भूल गई होगी, वह तुमसे कभी भी प्रेम नहीं करती थी। और प्रेम बिलकुल व्यर्थ की चीज है, उसका जीवन में कोई उपयोग नहीं। पर कुमुदनाथ को जैसे विश्वास न होता। वह मानो अपने आप से कहता रहता—शायद याद हो······!

इसी तरह सूरज डूबने के साथ दिन डूबते गये और अँधेरे के साथ रात्रियाँ आती गईं ······।

कुमुदनाथ पढ़-लिख कर विद्वान् हुआ। एक बहुत बड़े विश्व-विद्यालय में वह प्रोफेसर हुआ। उसने अनेक उपयोगी ग्रन्थ लिखे। अनेक नवीन अनुसन्धान किये। पढ़ने वाले चकित हुए। बड़े-बड़े आचार्यों के बीच युवक कुमुदनाथ का नाम आया। उसने बहुत बड़ी कीर्ति उपार्जित की। विदेशों में भारत का गौरव बढ़ाया। उसने जीवन की उपादेयता पा ली थी। दुनियाँ की सब बरकतें उसके लिए सचमुच तुच्छ हो गईं। उसके लिए न कांचन का मोल था, न कामिनी का।

धनिकों का ऐश्वर्य देख कर उसे हँसी आती। रूप और यौवन से भरी नवयुवतियों को वह ऐसी निरीह दृष्टि से देखता मानो कोई बेजान चीज सामने हो—खिलौना जैसी। संगी-साथियों के बीच जब कभी किसी 'रोमांस' की चर्चा आती तो कुमुदनाथ साधारण भाव से कहता—'प्रेम एक क्षणिक भावावेश है, जैसे और सब मनोवृत्तियाँ हैं—प्रासंगिक और असंयत। वास्तविक जीवन में 'आवेश' का कोई मूल्य नहीं है।'

—पर शान्ति ?

—वे कागज के टुकड़े ?

शहर के बाहर, जहाँ 'कलचर्ड' लोग रहते थे, प्रोफेसर कुमुदनाथ एक बङ्गला किराये पर लेकर रहता था। एक नौकर और एक रसोइया लेकर जीवन बिता रहा था। उसका अधिकांश समय 'स्टडी' में ही बीतता। वह बाहरी लोगों से बहुत कम मिलता था, कहता था कि—'जितना कम दुनिया वालों के सम्पर्क में आओ उतने ही अच्छे बनोगे'—पर अनेक गृहस्थ और अनेक छात्र उसके सहारे जीवन-यापन कर रहे थे। कुमुदनाथ के पास एक पैसा बच कर नहीं रहता······।

जब इस तरह जिन्दगी कट रही थी, एक दिन रात होते-होते बादल घिर आये और झम-झम करके पानी गिरने लगा। कुमुदनाथ काम समाप्त करके बैठा विश्राम ले रहा था। घने-काले आसमान की ओर देखते-देखते सहसा कुमुदनाथ को जाने क्या याद आने लगा।

···बहुत दिन हुए, सालें हुईं, उस लिफाफे को नहीं खोला है, जिसमें शान्ति की चिट्ठी के टुकड़े धरे हैं। उस चिट्ठी को कभी नहीं पढ़ पाया, उन टुकड़ों को कभी नहीं जोड़ पाया। निश्चल बैठा कुमुदनाथ सोचता रहा। आसमान से चारों ओर झमझम पानी गिर रहा था। रात अँधेरे में डूबी खड़ी थी। इसी तरह कुमुदनाथ के जीवन की हर बरसात मानो आँसू बहाती निकल जाती है!

—'क्या शान्ति को कभी उसकी याद आती होगी ?'

—उससे मेरी शादी होने वाली थी।

—लेकिन वह शायद मुझसे प्रेम नहीं करती थी।

—नहीं। उसने मेरे लिए चिट्ठी लिखी थी!

—क्या लिखा था चिट्ठी में?'

उन्मत्त की तरह उठ कर कुमुदनाथ ने बक्स खोल डाला और वह चिरसंचित लिफ़ाफ़ा निकाल लिया। फिर गहरे आवेश में डूब कर टेबिल पर कागज के उन छोटे-छोटे टुकड़ों को वह मिलाने लगा। आज वह अपने सारे यत्न से उन्हें जोड़ेगा······।

···रात भर पानी का झिमका लगा रहा। बादल ने आँख न उघारी। सड़कें पानी से भर गईं। राह में नदी-नाले बन गये। और प्रोफेसर कुमुदनाथ उन टुकड़ों पर सिर झुकाये रहा सारी रात।

और सचमुच उसने कुछ टुकड़े जोड़ लिये। पर रात की रोशनी में पेंसिल का लिखा पढ़ा नहीं गया। सुबह तो पढ़ पायेगा। ओह!—एक गहरी सन्तोष की साँस खींच कर वह सोफे पर लेट गया।

उस समय भोर के चार बजे थे। गहरी थकान से भरी आँखें कुमुद-नाथ ने मूँद लीं और उसी समय नींद आ गई उसे।

···देखा कि—इतनी लम्बी अवधि के बाद, अचानक शान्ति से साक्षात् होने की घड़ी आ गई। कुमुदनाथ की मोटर-साइकिल में कोई पुर्जा बिगड़ गया था। बहुत देर में उसे ठीक कर पाया। हाथ काले हो गये। घर के आँगन में आकर नौकर को पुकारा। कोई न बोला। नौकर शायद काम से बाहर गया था। अब कौन हाथ धुलाये?

कमरे में एक ओर शान्ति बैठी थी। देख पाकर वह उठ आई। मृदु-मन्द स्वर में कहा—'मैं धुलाये देती हूँ—'

कुमुदनाथ पाइप के पास आकर बैठा। हाथों पर साबुन मला, फिर शान्ति लोटे से पानी डाल कर धीरे-धीरे उसके हाथ धुलाने लगी।

भला कितने दिनों बाद यह सौभाग्य मिला है! हाथ धोते-धोते

कुमुदनाथ ने एक बार साहस करके आँखें उठाईं—अपने मुँह पर झुके शान्ति के चिरप्रिय चिरस्मृत मुखकमल को देखा, वे रसभरे नयन देखे, वह स्नेह-विह्वल दृष्टि देखी !

हृदय में जैसे बहुत बड़ा ज्वार-भाटा आ गया ।

हाथ धोकर, तौलिया से पोंछ कर, आँगन में वह टहलने लगा । शान्ति अपनी जगह पर जा बैठी । घर में और कोई नहीं है । सब ओर निस्तब्धता है ।

कुमुदनाथ जैसे किसी भी तरह संवरण नहीं कर सका । पागल-सा होकर शान्ति के पास आ खड़ा हुआ और भर्राये हुए स्वर में पुकार उठा —'शान्ति !'

शान्ति ने अपना मुख ऊपर को उठा दिया ।

कुमुदनाथ ने उसकी ओर बिना देखे कहा—'तुम्हें मालूम है शान्ति, तुम्हारे पीछे मैंने कितने कष्ट सहे हैं ! इतनी सालों से—' और आगे वह कुछ कह नहीं पाया ।

शान्ति मानो इसी को सुनने के लिए बैठी थी, इसी के लिए मानो प्रतीक्षा कर रही थी । उसकी आँखों में क्षण भर में आँसू भर आये । अपलक करुण दृष्टि से कुमुदनाथ को देखते-देखते कातर कण्ठ से काँपती आवाज में केवल इतना ही कहा—'तुम बतलाओ, मैं क्या करती—'

कुमुदनाथ को जाने कैसा लगा । वह उसी तरह दूसरी ओर देखता खड़ा रहा ।

रुदनभरी वाणी से शान्ति बोली—'तुमने कभी मेरे पास एक चिट्ठी तक न भेजी—'

कुमुद ने उत्तर न दिया ।

शान्ति ने आँसू बिना पोंछे उसी तरह कहा—'अब हम लोग पीलीभीत जा रहे हैं । तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ, मेरे पास चिट्ठी जरूर डालना……।'

'भैया जी !'

चौंक कर कुमुदनाथ ने आँखें खोल दीं और अचकचा कर बोला—'एँ ! क्या है ?'

रसोइया सामने छोटी टेबिल लगा कर खड़ा था । आदर से बोला—'चाय पी लीजिए !'

'चाय !'—कहता हुआ कुमुद सोफे पर उठ बैठा ।

अलस भाव से हाथ बढ़ाकर उसने प्याला उठाया । और एक घूँट चाय पीकर रुका । अभी वह सपना देख रहा था न ?—हाँ, सपना देख रहा था । क्या सपना था ? ओह !

—क्या सचमुच कभी इस तरह हो सकेगा ?

—कभी शान्ति से भेंट होगी ?

—वह कहेगी—!

भावों में डूबा कुमुदनाथ चाय पीता रहा । स्वप्न तो वास्तविकता के आस-पास की चीज होती है । जो कुछ हम देखते हैं, जैसा हमारे हृदय में होता है, वही स्वप्न बन कर सामने आता है ।

तब क्या शान्ति मुझे याद करती है ?—जरूर !

वह मुझसे प्रेम करती थी ?—जरूर !

तुम्हें चिट्ठी में यही लिख कर देना चाहा था ।

—चिट्ठी !

—वे कागज के टुकड़े !

'खट्' करके कुमुदनाथ ने हाथ का प्याला चाय वाली टेबिल पर धर दिया । और वह अपनी मेज की ओर लपका ।......

सारी रात जग कर उसने कुछ टुकड़े जोड़े हैं । अब पढ़ पायेगा । क्या लिखा है उसमें ?......

—लेकिन यह क्या ?

—मेज साफ पड़ी है ।

क्षण भर को कुमुदनाथ का सिर घूम गया। फिर उसने चिल्ला कर पुकारा—'रामनाथ !'

इतनी तेज पुकार सुनकर रसोइया दौड़ा आया घबराया-सा, हाथ जोड़ कर बोला—'भैया जी !'

कुमुदनाथ ने कठिनता से कहा—'यहाँ मेज पर कुछ कागज के टुकड़े थे—'

रामनाथ रसोइया ने मालिक की ऐसी शकल कभी नहीं देखी थी। उनके होंठ नीले से पड़ रहे थे और चेहरा फक् था, देही काँप रही थी, आँखों में जैसे मुर्दापन-सा छाया था।

डर कर बोला—'मुझे नहीं मालूम भैया जी, सियाराम सफाई करने आया था—'

कुमुदनाथ ने गिरी आवाज से कहा—'बुलाओ उसे।'

पलक मारते रसोइया नौकर सियाराम को बुला लाया।

कुमुदनाथ ने अपलक आँखों से उसे ताक कर पूछा—'यहाँ क गज के टुकड़े थे—'

सियाराम ने कहा—'जी हाँ, थे तो—'

'क्या किया ?'—कुमुदनाथ ने घबरा-घबरा कर पूछा—'क्या किया उनका ?'

नौकर डरता-डरता बोला—'मैंने रद्दी समझ कर फेंक दिये सरकार !'

'फेंक दिये !'—प्रोफेसर की आँखें मस्तक पर चढ़ गईं, जैसे पागल हो गये हों इस तरह कहा—'फेंक दिये !'

'हाँ सरकार !'—सियाराम काँप कर बोला।

कुमुदनाथ ने दोनों हाथों से अपना मुँह ढँक लिया। उसका हृदय शून्य-सा हो गया था—जैसे हृदय के गुप्त स्थान से एक प्रिय वस्तु, एक निधि खो गई हो। फिर वह सहसा उठ कर कमरे से बाहर दौड़ा आया।

बरामदे के आगे, पक्के फर्श के नीचे पानी इकट्ठा होकर बहता चला

जा रहा था। प्रोफेसर कुमुदनाथ मेह में भीगता, चारों ओर झुककर देखने लगा। एक किनारे में, जहाँ नौकर कूड़ा बटोर कर फेंक गया था, कागज की बहुत छोटी-छोटी तीन-चार चिन्दियाँ चिपकी पड़ी दीखीं। पानी की बूँदें आसमान से अब तक उन पर गिर रही थीं। पेंसिल का लिखा एक-आध अक्षर और अक्षरों के टुकड़े उन पर से धुल गये थे।

कुमुदनाथ ने बड़े जतन से वे तीन-चार चिंदियाँ उठा लीं और उन्हें छाती से लगाये लौट चला भीतर को।

भूल

देवदत्त 'सूर्यमुखी' का सहकारी सम्पादक था। १५वीं जुलाई की सम्पादकीय डाक में यह चिट्ठी उसने पढ़ीः—

श्रीमान् सम्पादक जी,

मैं आप की सेवा में एक कहानी 'सूर्यमुखी' में छापने के लिए भेज रही हूँ। आशा है, आप की सुप्रसिद्ध पत्रिका अपने कमनीय कलित कलेवर में इस तुच्छ वस्तु को भी स्थान देगी।

सम्पादक जी, बुरा न मानिये, आजकल कुछ ऐसा रिवाज चल गया है कि बिना जाने-पहचाने लेखक की रचनाओं को सम्पादक लोग अपनी पत्रिकाओं में स्थान नहीं देते। इसलिए लज्जा छोड़ कर मैं अपना परिचय आपको स्वयं देती हूँ।

मैं यहाँ के एक सुप्रसिद्ध वकील की पुत्री हूँ। मैंने चौदह वर्ष की अवस्था में फर्स्ट डिवीजन में मैट्रिक पास किया। यहाँ के एक इण्टर कालेज में सहशिक्षा होने के कारण गत वर्ष फर्स्ट ईयर में पढ़ती रही। अब सेकेण्ड ईयर में कुछ विशेष कारणों से मुझे वह कालेज छोड़ देना पड़ा और एक गर्ल्स कालेज में हूँ। यही मेरी शिक्षा है।

कहानी लिखने की रुचि मुझे बचपन से ही है। मेरी छोटी-छोटी रचनाएँ पत्रिकाओं में निकलती रही हैं। कई कहानियों पर प्रतियोगिता-पुरस्कार भी मिल चुका है।

अब आप से प्रार्थना है कि यदि आप इसे छाप दें तो बड़ी कृपा होगी!

यदि कहानी पसन्द न आवे तो अपनी सम्मति, कम से कम कुछ उत्तर, जो कुछ आप लिखना चाहें, अवश्य भेज दीजिये।

—आपकी कान्तिकुमारी

यह चिट्ठी बहुत सुन्दर अक्षरों में, रंगीन पैड पर थी। देवदत्त का विवाह नहीं हुआ है। अभी कुछ दिन पूर्व ही यह सर्विस मिली है। इसीलिए खूब परिश्रम करता हैं। सहायक-सम्पादकी के लिए हृदय में गौरव किये है। चाहे किसी का लेख अस्वीकृत कर सकता है, चाहे किसी का छाप सकता है।

कान्तिकुमारी की कहानी सारहीन थी। पर देवदत्त ने वैसी चिट्ठी पढ़ कर उसे निकाल देना ही निश्चित किया। बहुत यत्न करके उसे सँभाला। कहानी पत्रिका में प्रकाशित हुई। एक चिट्ठी सम्पादक के नाम-छपे कागज पर लिख कर भेजी।

८ अगस्त को यह उत्तर आयाः—

प्रिय श्री देवदत्त जी,

आप ने तो कमाल कर दिया। बिखरे हुए फूलों को पिरोकर एक सुघड़ और सुन्दर-सी माला बना दी।

कहानी के अपूर्ण चित्र को पूर्ण करके, उसके जर्जर शरीर में आपने जीवन-स्फूर्त्ति डाल दी। आपने सचमुच ही मेरा हृदय पढ़ लिया है।

आप के कृपापत्र और कष्ट के लिए मेरे पास शब्द नहीं, जिनसे मैं आपको पूर्णतया धन्यवाद दे सकूँ। आपकी सम्मति का मैं हृदय से स्वागत करती हूँ और आपके जैसे पथ-प्रदर्शक का पाना अपना सौभाग्य समझती हूँ।

आप ने जो लिखा है कि—'किसी विशेष कारण से नहीं...मेरा कोई भी मतलब इससे सिद्ध नहीं...'—यह सब लिख कर आपको अपनी सफाई देने की आवश्यकता नहीं। सफाई तब दीजिये जब मैं वकील बन जाऊँ।

जब से आपका पत्र मिला है, हृदय में इस विषय पर बहुत कौतूहल-सा है। आशा है, आप मेरी उत्सुकता को शान्त करेंगे। अपने फोटोग्राफ

की एक कापी आटोग्राफ सहित भेजने का कष्ट कीजियेगा। इस धृष्टता के लिए क्षमा चाहती हूँ।

आपकी—

कान्ति।

पुनश्च—आपका लिफाफा वजनी होने के कारण बैरङ्ग हो गया था, छः पैसे और देने पड़े। कृपया सोच-समझ कर टिकिट लगाया कीजिये...।

इसके बाद दो बड़ी-बड़ी चिट्ठियाँ अँग्रेजी में आईं। देवदत्त ने दोनों के उतने ही बड़े उत्तर दिये। तीसरी चिट्ठी, २१ सितम्बर को लिखी गई, यह आई :—

प्रिय देवदत्त,

तुम्हारे दोनों पत्र मिले। पहिला १० ता० को और दूसरा आज। एक बार तो डाकिया को वापस कर दिया, परन्तु फिर कुछ सोच कर भाई को भेज कर तलाश करवाया और आपका बैरङ्ग लिफाफा ले लिया!

अब मेरे खर्चे में यह एक नया विभाग निकल आया। आमदनी का तो कोई जरिया नहीं, खर्च बढ़ते जाते हैं। अब मैं तुम्हारे लिए रोज-रोज बैरङ्ग पत्र के लिए भी पैसे दिया करूँ?

माताजी और पिताजी को तो यह रहस्य मालूम नहीं है। नौकर के द्वारा ही सब काम चुपचाप होता है; क्योंकि पिताजी पत्रों पर बहुत ध्यान देते हैं। इसीलिए मुझे हमेशा सावधान रहना पड़ता है।

तुम्हें तो बहुतेरी आमदनी है। न हो मुझे एक पाँच रुपये का ही मनीआर्डर भेज दो। प्रिय देवदत्त, मेरी-तुम्हारी 'हृदय की पुकार' पहुँचने का रास्ता कहीं बन्द न हो जाय। बहुत डर लगता है।

यदि रुपये भेज सको तो कूपन में 'पुरस्कार' लिख भेजना, इससे किसी को कोई सन्देह भी नहीं होगा...।

विचार तो यह था कि यह पत्र भी अँग्रेजी में ही लिखूँ; किन्तु तुम्हारी चुटकी से डर गई। तुम्हें मेरे अँग्रेजी पत्रों की शैली अच्छी नहीं

लगती और फिर तुम मजाक भी उड़ाते हो। कभी कुछ लिख देते हो तो कभी कुछ !

भगवान् जाने मुझको परेशान करने में तुम्हें क्या आनन्द आता है। परन्तु सत्य कहती हूँ, आज तुम्हारा यह पत्र पढ़ कर हृदय में जाने कैसा आभास हो रहा है। न जाने क्यों ?

कौन सी कहानी ?—तुम बड़े भोले हो देव,—यह मेरी-तुम्हारी कहानी। इतना भी नहीं समझते ?

मुझ से हार मान गये !—हाय, यह कैसी बात कहते हो ! प्रिय, मैं क्या हूँ, मैं तो तुम्हारी रेणु हूँ।

तुम्हारी—

कान्ति।

पुनश्च—तुम्हारी अस्वस्थता का वृत्तांत पढ़कर बड़ी चिन्ता हुई। स्वास्थ्य पर अच्छी तरह से ध्यान दो तन्दुरुस्ती हजार नियामत है...।

देवदत्त ने चिट्ठी को पढ़ कर रख लिया। दिमाग में उलझन पैदा हो गई। इस चिट्ठी ने मन में एक संशय पैदा कर दिया। फिर भी मस्तिष्क में 'कान्तिकुमारी' की कल्पित मूर्त्ति दिन-रात आलोड़ित होती रही...।

दस दिन बाद एक चिट्ठी और आई, पोस्ट-कार्ड पर। देवदत्त ने उत्तर में लिखा कि यदि वह कान्ति के शहर में आये तो क्या उससे भेंट हो सकेगी ?

इस चिट्ठी के साथ चार आने के टिकिट भी गये। उत्तर आया (अँग्रेजी में) :—

...तुम यदि यहाँ आओ तो बहुत प्रसन्नता की बात होगी पर मेरा दुर्भाग्य है कि इस छुट्टी में मैं बम्बई जा रही हूँ। वहाँ मेरी मौसी रहती हैं। उनका बहुत दिनों से आग्रह है। इस बार जाना निश्चित हो चुका है।

तुमसे मिलने के लिए मेरा हृदय कितना आकुल है, इसे कैसे प्रकट करूँ ? पर बम्बई के प्रोग्राम से बहुत अड़चन में पड़ गई हूँ।

क्या करूँ !......

—इसके बाद फिर हिन्दी में लिखा आया :—

६, दिसम्बर।

प्रिय,

यदि तुम्हारे पत्र में तुम्हारी ही हस्तलिपि और लेटर-पेपर न होता तो कदाचित् मैं विश्वास नहीं कर पाती कि वह तुम्हारा ही लिखा हुआ है।

कहते हो—'कविता नहीं करता।' कविता और कैसी होती है ?

काश ! मैं भी पुरुष होती।

देव, तुम नहीं जानते, स्त्री प्रथम तो अपना हृदय इतनी जल्दी देती नहीं, जितनी जल्दी पुरुष और यदि देती है तो जीवन भर के लिए, प्राणों की बाजी लगा कर। किन्तु पुरुष बड़े मनचले होते हैं। वे आसानी से अपने प्रण को भूल जाते हैं और उसे वापस भी लेने की चेष्टा करते हैं।

अब तो तुम मुझे चाहे कुछ कह कर, चाहे कोई लांछन लगा कर, त्याग सकते हो। तुम स्वतन्त्र हो।

स्त्री का भाग्य ही कदाचित् विधाता ने सृष्टि के आदि काल में ही ऐसा रच दिया था। जैसी बातें तुमने इस पत्र में लिखी हैं, उनके केवल ध्यान मात्र से रोमांच होता है। मैंने कभी तुमको 'बेवफा', 'धोखेबाज' और और जाने क्या-क्या (मुझे तो लिखते भी लज्जा लगती है) नहीं कहा है। हाय, तुम्हारे लिए ऐसे शब्द कहूँगी !

जब से तुम्हारा यह पत्र आया है, इतनी व्याकुलता और बेचैनी है कि व्यक्त नहीं कर सकती। पत्र भी नहीं लिखा जा रहा था। आज अति कठिनता से मन को बाँध कर तुम्हें ये पंक्तियाँ लिखी हैं।

मैंने जो तुम्हें रुपयों के लिए लिख दिया था, उसे तुमने जाने क्या-क्या समझा है। वह तो मैंने केवल तुम्हारे बैरङ्ग पत्रों से परेशान हो कर लिख दिया था। परन्तु तुमने एक मीठे परिहास को इतना 'कड़वा' अनुभव किया और कण का पहाड़ बना दिया।

जानते हो प्रिय, प्रेम का मूल्य नहीं है। संसार की किसी भी बहुमूल्य वस्तु से उसका प्रतिदान नहीं हो सकता। और फिर पाँच रुपये! छिः, कैसी तुच्छ बात है! इनसे मेरा जीवन तो नहीं कट जाता! हाँ, वैसे तो तुम्हारी एक पाई भी मेरे लिए संसार की अतुल धनराशि से बढ़कर है।

मैं अनुभवहीना हूँ। मेरी छोटी-सी दुनिया में अनुभव है ही कितना। मैंने अपने पत्रों में पाण्डित्य कभी भी नहीं दर्शाया है। तुम मुझ पर झूठा दोष क्यों लगा रहे हो, निष्ठुर?

इस तरह का व्यङ्ग करना तुम्हें शोभा नहीं देता।

यदि तुम मेरे बम्बई जाने से रुष्ट हो तो लो मैंने अब बम्बई जाना स्थगित कर दिया। तुम अपने आने की तिथि और दिन शीघ्र लिखो, जिससे तुम्हें यहाँ आने में कोई कष्ट और परेशानी न हो।

आओ, अवश्य आओ!

तुम्हारी—

कान्ति

—२—

एक्सप्रेस सुबह पाँच बजे बड़ी-सी जंकशन पर आकर रुक गई। देवदत्त उतरा। कुली के सिर पर सामान रखवा कर पुल पार करके स्टेशन के पार आया।

बीस कदम पर धर्मशाला थी। वहीं आकर नहाया-धोया, कपड़े बदले और बाहर निकला। फाटक के आसपास कई दूकानें थीं। एक पर ताजी जलेबी बन रही थी। देवदत्त ने जलेबी खा कर जलपान किया। फिर इक्के पर बैठ कर शहर को चला।

'रानी कुँआ' तलाश करने में बहुत देर नहीं लगी। जब मोहल्ले की सड़क पर आ पहुँचे तो इक्के वाले ने रास खींच कर सिर घुमा कर पूछा—'किधर ले चलूँ बाबू?'

देवदत्त दोनों ओर के मकानों को देखता बोला—'ले चलो, आगे ले चलो !'

इक्का फिर चलने लगा।

बिजली के खंभे से सटी एक छोटी-सी तीन दरवाजों वाली बैठक के ऊपर साइन बोर्ड लगा था :—

'कृष्ण नारायण, वकील......' देख कर देवदत्त ने इक्के वाले से कहा—'रोक लो।'

एक अठन्नी उसकी हथेली पर रख दी और बैठक की ओर चला...।

छोटी-सी मेज सामने रक्खे एक ग्यारह-बारह साल का लड़का बैठा कापी पर कुछ लिख रहा था। उस बैठक में पैर रखते ही देवदत्त के हृदय का स्पन्दन तीव्र हो उठा।

जाने कैसे उसका स्वर इतना भारी हो गया—लड़के से कहा—'कांति जी हैं !'

लड़का उठकर खड़ा हो गया। दूसरी कुरसी सामने पेश कर दी और खुद कोने के दरवाजे से भीतर घुस गया......।

देवदत्त के हृदय में भावों का द्वंद्व मचा था। मस्तिष्क बहुत अस्थिर हो रहा था। घबड़ाया-सा बैठा था कि भीतर से एक बाइस-तेईस साल का उसी की उम्र का, नवयुवक हँसता हुआ निकला। वहीं चौखट पर से हाथ जोड़ लिये। देवदत्त ने भी 'नमस्ते' की। पास आया तो हाथ बढ़ा दिया। देवदत्त ने हाथ मिलाया। आमने-सामने दोनों कुर्सियों पर बैठे।

नवयुवक ने कहा—'सब से पहले माफी चाहता हूँ। आपको बहुत दिक किया है !'

देवदत्त चौंक रहा। फिर भी हँस कर कह दिया—'नहीं-नहीं।'

नवयुवक ने कहा—'चिट्ठी मिल गई थी मेरी ? नौकर दो दिन जेब में ही रक्खे रहा। कब मिली थी ?'

देवदत्त ने कहा—'समय से मिल गई थी।'

'अच्छा, असबाब कहाँ है ?'

'वहीं धर्मशाला में है।'

'धर्मशाला में क्यों रख आये ? कौन से कमरे में है ? मैं अभी नौकर को भेज कर मँगवाये लेता हूँ।'

'नहीं, नहीं,'—देवदत्त ने कहा—'अब वहीं रहने दीजिये। शाम की गाड़ी से देहली जाने का इरादा है।'

'क्यों ?'

'बहुत जरूरी काम है।'

'क्या काम है, आखिर बतलाइये तो !'

देवदत्त ने रूमाल से माथे का पसीना पोंछकर कहा—'कुछ परसनल है।'

इसी समय भीतर से एक अधेड़ सज्जन और आये। ये दोनों उठ कर खड़े हो गये।

नवयुवक ने देवदत्त की ओर इशारा करके कहा—'आप ही हैं मिस्टर देवदत्त।'

देवदत्त ने हाथ जोड़े।

अधेड़ सज्जन ने हँसकर कहा–'सूर्यमुखी का संपादन आप ही करते हैं ?'

नवयुवक ने कहा—'जी, आप ही करते हैं।'

अधेड़ सज्जन मुस्कुरा कर कुर्सी पर बैठ गये। देवदत्त को पसीना आ रहा था। ओह, सब को मालूम है; सबको उसकी यह बेवकूफी मालूम है।

अधेड़ सज्जन ने प्रश्न करना शुरू किया—कौन-कौन है घर पर ? पिता को कितनी 'पे' मिलती है ? भाई की पढ़ाई समाप्त हुई या नहीं ? बहिन की कहाँ शादी हुई है ?'

इस तरह पूछ रहे थे कि उसके घर की सब बातें जानते हों। देवदत्त उत्तर देने लगा। पर हालत उसकी बहुत बुरी हो रही थी।

नवयुवक उठ गया......।

बातें करते-करते बीच में वकील साहब ने आवाज लगाई—'कान्ती !'

'जी।' नवयुवक ने दौड़े आकर कहा।

'अरे भाई, इन्हें नाश्ता तो कराओ।'

देवदत्त बोला—'जी, कर आया हूँ।'

उसकी बात पर किसी ने ध्यान नहीं दिया।

घड़ी बीते नमकीन और मीठे को दो तश्तरियाँ आ पहुँचीं।

वकील साहब उठ गये। अब कान्ती सामने आ बैठा। हँस कर कहा—'शुरू कीजिये !'

देवदत्त ने तश्तरियाँ पास को सरका लीं। कान्ति ने कहा—'भाई, तुम अगर शरमाओगे तो मुझे बुरा लगेगा और अगर मन में ग्लानि की तो बहुत दुख होगा !'

देवदत्त ने थोड़ा-सा मुस्कुरा दिया और खाता रहा। सामने की किवाड़ें बन्द कर ली थीं। किसी ने बाहर से कहा—'मिस्टर कान्तिस्वरूप !' और किवाड़ खोल दिये। और तीन लड़के हम-उमर के भीतर आ खड़े हुये।

कान्ति ने खड़े होकर हाथ जोड़े, कहा—'बैठिये, बैठिये।'

एक ने देवदत्त की ओर इशारा करके पूछा—'आप की तारीफ ?'.

'आप'—कान्ति ने मुस्कुराकर जवाब दिया—'सूर्यमुखी के संपादक जी !'

तीनों आदमियों ने आश्चर्य से कहा—'आप ही हैं मिस्टर देवदत्त ?'

फिर सब ने बारी-बारी से हाथ मिलाया।

ओह, इनको भी शायद मालूम है, जरूर मालूम होगा, कान्तिस्वरूप ने कहा होगा।

लज्जा और ग्लानि से देवदत्त की नजर ऊपर को नहीं उठने लगी। हे परमात्मा, बड़ी भद्द हो रही है उसकी।

एक उनमें बहुत बातूनी था। उसने सवाल किया—'कान्ति बाबू का परिचय आपके साथ कब से है ?'

देवदत्त क्या जवाब दे ?

कान्ति ने कहा—'बहुत पहले से है।'

प्रश्नकर्त्ता ने कहा—'यहाँ किस काम से आना हुआ?'

ओह, ये लोग अब उसे उल्लू बनायेंगे। पर कान्ति ने कहा—'आये हैं, कुछ जरूरी काम है।'

उसने फिर कहा—'क्यों साहब, हम अगर कोई लेख वगैरह भेजें तो छप जायगा?'

देवदत्त ने कुंठित होकर कहा—'छपने योग्य होगा तो अवश्य छपेगा...।'

घर के सामने एक वैद्यजी का औषधालय था। वे अँग्रेजी बहुत थोड़ी जानते थे। अपने सार्टिफिकेटों की नकल करवानी थी, सो वे भी आ पहुँचे। कान्ति से कहा—'जरा-सा हमारा काम कर दो।' और देवदत्त के लिए पूछा—'श्रीमान् का परिचय?'

बात करने वाले ने बतलाया।

वैद्यजी उछल पड़े 'अहोभाग्य, अहोभाग्य!' और हँसते हुए कहने लगे—'कान्ति ने बहुत बार आपकी चर्चा हम से की थी। बड़ी लालसा थी आपके दर्शनों की।'

देवदत्त ने दुखी होकर मन ही मन कहा—मुझे अब तुम सब जी भर कर उल्लू बना लो। तुम्हारे चंगुल में फँसा हुआ हूँ!

—वैद्यजी भी जम गये।

हे भगवान्, कब इनसे उसे छुटकारा मिलेगा? देवदत्त का दिल छटपटा रहा था।

सब मिलजुल कर कैसे प्रेम से उससे सवाल पर सवाल किये जा रहे हैं! सब व्यंग्य है—सब व्यंग्य है।

—२—

दोपहर को घर के भीतर भोजन करने पहुँचा। सिर नीचा किये चुपचाप, किसी तरह खाना गले से उतार रहा था। आसपास कान्ति

के दो सहपाठी बैठे थे। वे बारबार उसकी थाली की ओर देख कर कह रहे थे—'आप तो जनाब, कुछ खा ही नहीं रहे हैं, तकल्लुफ न कीजिये।'

अचानक सामने की ओर आँखें चली गईं। आँगन के पार, कोठरी में, आधी खुली हुई किवाड़ों से कई सुन्दर मुख झाँक रहे थे। सब मुखों पर मुस्कुराहट थी और सब की नजरें उसी के चेहरे पर लगी थीं। क्या इन सब को भी मालूम है?

हँस रही हैं, जरूर जानती हैं।

हे ईश्वर!

देवदत्त के गले में ग्रास अटक गया। पानी उठा कर पीने लगा।

वकील साहब ने परोसने वाले से कहा—'अब इन्हें पानी मत देना, पानी से ही पेट भरे लेते हैं। जाओ, इनके लिए थोड़ी खीर और लाओ।'

साथ के खानेवाले सब लोग हँस पड़े। देवदत्त ने भी हँसने का प्रयास किया, पर उससे हँसा नहीं गया। क्या करे?

अपने ऊपर रह-रह कर क्रोध आ रहा था। कहाँ आकर फँस गया।

—४—

जब ट्रेन ने सीटी दे दी तब जान में जान आई। कान्ति अभी खड़ा था। ट्रेन धीरे-धीरे खिसकने लगी। कान्ति ने कहा—'पहुँचते ही चिट्ठी डालना, भूलना मत!'—और हाथ जोड़ लिये।

देवदत्त ने भी हाथ जोड़कर कहा—'अच्छा।' ट्रेन तेज हो गई। देवदत्त अपनी जगह पर आ बैठा। उसने घड़ी भर के लिए आँखें मूँद लीं और एक गहरी संतोष की साँस लेकर इष्टदेव का स्मरण किया...।

...दसवें दिन प्रधान-सम्पादक ने बुला कर पूछा—'आप कृष्ण नारायण वकील को जानते हैं?'

देवदत्त के जी में धक् से हो गया, हिचकिचा कर बोला—'जी! कृष्ण नारायण वकील?'

'हाँ, मेरठ में जो रहते हैं।'

देवदत्त के मुँह का रंग उड़ गया। काँपती जुबान से कहा—'जी, मैं तो नहीं जानता।'

प्रधान सम्पादक ने हँस कर कहा—'खैर, आप नहीं जानते हैं तो कोई नुकसान नहीं है। जाइये, काम कीजिए।'

...देवदत्त बहुत शंकित हुआ। क्या उन बदमाशों ने इनके पास कोई पत्र भेजा है? क्या बात हुई? आखिर इन्होंने वकील साहब की बाबत मुझसे क्यों पूछा? कोई गड़बड़ जरूर है। हे ईश्वर, अगर सारी घटना इन्हें मालूम हो गई तो फिर कहीं मुँह दिखाने योग्य न रहूँगा!

देवदत्त कई दिनों तक भयभीत रहा पर प्रधान-सम्पादक ने फिर कभी वह चर्चा नहीं उठाई...।

...कान्ति की तब से कई चिट्ठियाँ आ चुकी थीं लेकिन देवदत्त ने एक का भी जवाब नहीं दिया। सब फाड़-फाड़कर फेंक दीं।

जिस दिन वह सब स्मरण हो आता, रोंगटे खड़े हो जाते। कान्ति-कुमारी का खिले कमल-सा सुन्दर मुख, मीठी बोली, मृदु मुस्कान अब और कल्पना में नहीं आती।

देवदत्त वह सब याद करके मन ही मन अपने ऊपर लज्जा और ग्लानि बोध करता...।

दो महीने बाद बाप की चिट्ठी आई। घर पर देवदत्त को बुलाया गया था। प्रधान-सम्पादक ने जाने को कह दिया। साथ में बाप के लिए एक पत्र भी बन्द करके दे दिया...।

देवदत्त घर पहुँचा। सब लोग बहुत खुश नजर आये। क्या बात है!

शाम को भाभी ने बतलाया कि उसकी शादी ठहरी है टीका चढ़ेगा कल। और लड़की बहुत सुन्दर है, इसी साल मैट्रिक किया है। कविता करती है।

देवदत्त को बड़ा आश्चर्य हुआ...।

फ़ुरसत में बाप को सम्पादक जी का लिफाफा दिया। पढ़ कर बहुत प्रसन्न हुए, बोले—'एक और एक ग्यारह !'

माँ ने पूछा—'क्या है ?'

'शर्माजी ने चिट्ठी भेजी है। इसी कन्या के लिए सिफारिश की है !'

कौन-सी कन्या है ऐसी ?

कहाँ की है ?

क्या नाम है ?

कुछ पता नहीं चलता !...

...टीका चढ़ाने वाले आ गये हैं। सुनते हैं, लड़की का भाई आया है। अपने एक जानी-पहचानी के यहाँ ठहरा है। सुबह तड़के शुभ-लग्न में कार्यारम्भ होगा।

—६—

पुरोहितजी ने कहा—'अब लल्ला को बुलाओ।'

बाप ने आवाज लगाई—'देव !'

माँ ने सिर पर टोपी उढ़ा दी। देवदत्त कुछ लजाता-सा चौक पर आ बैठा।

'तिलक कीजिये।'

किसी ने उठ कर देवदत्त के माथे की ओर हाथ बढ़ाया।

कौन सज्जन हैं ?

एँ !

कान्तिस्वरूप !

× × ×

शाम को दोनों जने साथ-साथ टहलने गये। देवदत्त अब भी शरमा रहा था।

कान्तिस्वरूप ने कहा—'तुमने मेरी एक भी चिट्ठी का जवाब नहीं दिया।'

देवदत्त ने बहाना किया—'फुरसत ही नहीं मिलती।'

कान्तिस्वरूप ने हँस कर कहा—'पहले तो तीसरे रोज फुरसत मिल जाती थी।'

देवदत्त ने मुस्कुरा दिया।

—o—

एक सवाल

खाँ साहब से पण्डितजी की जान-पहचान बड़ी अजीब तरह से हुई थी। चलती ट्रेन में वे एक शेर बोलने लगे तो पीछे से इन्होंने भी एक चुभती-सी सुना दी।

खाँ साहब भौंचक रहे, 'इरशाद' कहा और तब पण्डितजी ने अपना शेर फिर से सुनाया—'नातवाँ हूँ...'। निहाल हो गये। दौलतखाना पूछा और पान खिलाये और फिर रास्ते भर बातें होती आईं, बड़ी-बड़ी दिलचस्प।

अलग होने लगे तो बड़ा दुख-सा लगा। पता लिख दिया और कहा कि—'कभी मेरे शहर भी आना। कोई खिदमत हो तो लिख भेजना। आज से तुम मेरे 'दोस्त' हो। भूलना नहीं!'

पण्डितजी ने कहा—'आप को वही भूल जायगा जो पत्थर का दिल रखता हो।'

ट्रेन चली तो ये प्लेटफार्म पर खड़े रहे और वे खिड़की पर। आँखें भर आईं और दूर तक देखते गये, जब तक दीखा।

चिट्ठी भेजने की कभी नौबत न आई, न कभी उस शहर को जाने का मौका पड़ा। पर भूले सचमुच नहीं। जब-जब वह शेर याद आता तो खाँ साहब की याद आ जाती।...

बड़े लड़के मोहनलाल ने इण्टर पास कर लिया था और अब बी० ए० करने जा रहा था। परन्तु घर की हालत ऐसी थी कि कहते न बने।

एक लड़का-लड़की और थे। और इन पाँच प्राणियों के भरण-पोषण

के लिए कुल पचास रुपये महीने की मंजूरी हुई थी ईश्वर के दरबार से। सो उसी से गुजर-बसर होती और उसी में सब सुख-संतोष ढूँढ़ लेते थे।

मोहनलाल बेचारा घर की ऐसी हालत देख कर कुढ़ता था। कुढ़ कर मन ही मन वह न जाने कितनी प्रतिज्ञाएँ करता था। परन्तु वे प्रण पूरे होने के दिन अभी कहाँ थे!

जो कहीं पढ़-लिख कर वह कोई अच्छा 'पद' पा सका तो सब दुख दूर होंगे।

दिन-रात गिरिस्ती का काम करते-करते माँ के शरीर की ठठरी निकल आई थी। बाप अपना फटा हुआ कोट पहने गड्ढों में आँखें धँसाये, सड़कों पर मारे-मारे फिरते थे। माँ मुँह सिये सब कष्ट झेलती; बाप सिर डाले सब व्यथा सहते। छोटे भाई-बहिनों को कभी अच्छा खाने-पहिनने को नहीं मिलता। मेला-तमाशा होता तो घर में छिपे रहते। नंगे, उघारे कहाँ जायँ!

बहिन को जाने कैसे करके माँ ने एक जोड़ी झाँझें बनवा दी थीं चाँदी की। सो एक दिन ऐसा आया कि वे झाँझें मोहनलाल की परीक्षा-फीस में बिक गईं।

मोहनलाल लज्जा और ग्लानि में डूब कर सोचता—'पढ़ना छोड़ दूँ?'

फिर सोचता, जो कहीं पढ़-लिख कर वह कोई अच्छा 'पद' पा सका तो सब दुख दूर होंगे।

और तब मोहनलाल सब ओर से अपना मन एकाग्र करके रात-रात भर पढ़ता रहता। बिस्तर के दूसरे किनारे पर दोनों छोटे भाई-बहिन सोते रहते, पुराना लिहाफ ओढ़े। कोने में कड़ुवे तेल का दिया जलता रहता और बाहर आसमान से अँधेरा गिरता रहता चारों ओर।

बाप ने उसके लिए नया लिहाफ बनवा दिया था। जाने कितनी चाह से घी मोल लाते और मोहनलाल की माँ को समझाते—'उसे बहुत-

बहुत-सा घी खिलाओ। इतनी मेहनत करता है; दिमाग थक जाता होगा।'

और माँ उसके लिए मगद या हलुवा बनाती। थोड़ा-थोड़ा छोटे भाई-बहिनों को भी मिलता। उसकी दाल में गरम करके घी डालती, रोटियाँ चुपड़-चुपड़ कर खिलाती। मोहनलाल मना करता तो कहती—'और सब पढ़ने वाले लड़के जाने कितना फल-मेवा खाते हैं। इतनी मेहनत पड़ती है; तेरे मुँह की हड्डियाँ निकल आई हैं। घी भी न खायगा—' और तब रोटी पर थोड़ा-सा घी और चुपड़ देती। छोटे भाई-बहिन कभी घी न माँगते। देने लगो तो कहते—'भैय्या के लिए है घी; हम न खायँगे।'

मोहनलाल क्या करे? उपाय न पाकर वह और जी तोड़ कर परिश्रम करता। उस कठोर परिश्रम के बीच, सूरज के साथ दिन डूबते गये और अँधेरे के साथ रातें उड़ती चलीं।

और अन्त में वह इण्टर पास हो गया। प्रथम श्रेणी पाई—प्रथम श्रेणी पाई, इसी से आगे का साहस भी हुआ। अब फीस तो माफ हो ही जायगी। बाकी खर्चे की बात है, सो मोहनलाल को विश्वास है, वह कुछ न कुछ कर ही लेगा। बाप ने कहा है—'पन्द्रह-बीस रुपये महीने देता रहूँगा। एक ट्यूशन अगर किसी तरह मिल गई तो समझो झंझट कटा।'

बाप ने जाने किस-किस से मुँह डाला, जाने कहाँ-कहाँ हाथ पसारा तो सब मिल कर अस्सी रुपये हो गए। धीरे-धीरे कर के यह कर्जा भर देंगे। अभी तो मोहनलाल का दाखिला हो जाय बी० ए० में।

और क्या प्रबन्ध करें? परदेश में पहली बार जाकर रहेगा। वहाँ अपना कौन बैठा है। रात को पड़े-पड़े सोचने लगे तो अचानक अपने उन खाँ साहब की याद आई कि—अरे, वे तो उसी शहर में रहते हैं!

और भोर होते ही चिट्ठी तैयार की। उस घटना की याद दिलाई और लिखा—'आप का बेटा है। यहाँ उसका बाप मैं था; वहाँ आप हैं।'

यह चिट्ठी और वे अस्सी रुपये मोहनलाल के हवाले किये।

घर में और क्या था? एक-एक पैसा करके माँ ने पाँच रुपये जोड़ लिये थे। चलती बेला, वे ही पाँच रुपये दे दिये बेटे को और हाथ की 'मिट्ठी' ले ली और मैली धोती में दुख के आँसू पोंछ लिये।

छोटे भाई ने पैर छुये। बहिन ने 'राम-राम' की। मोहनलाल ने माँ के चरणों की रज माथे ली और इक्के में जा बैठा भरा दिल और भरी आँखें लिये।

बाप स्टेशन तक साथ गये। दोनों भाई-बहिन दरवाजे के नीचे खड़े रोते रहे सिसक-सिसक कर। और माँ किवाड़ों की ओट में आँसू बहाती रही, बेसुध-सी।

× × ×

वह खाँ साहब की जिन्दादिली और साहित्य-प्रियता का नमूना था। पण्डितजी को यह गुमान भी न था कि यह आदमी इतना वसिअ-दिल और नेक है। अब जाना तो यह हालत हुई कि कभी आनन्दित होते तो कभी संकुचित। मोहनलाल ने लिख कर भेजा था कि—'उन्होंने सब प्रबन्ध कर दिया। नौ रुपये और लगे सो भी अपने पास से दिये और कमेटी में सिफारिश करके मुझे एक वजीफा दिलवा दिया और फीस भी माफ हो गई। दरवाजे के पास एक कोठरी है, पहिले किराये पर थी, उसी में रहने लगा हूँ।'—

आदमी की एक मनोवृत्ति होती है—वह दूसरे की सहायता पा कर अपनी निर्बलता अनुभव करता है। ऐसी सफलता में एक हल्की-सी हार छिपी रहती है।

पण्डितजी हार गये थे और खाँ साहब ने उन्हें हरा दिया था। इसी से संकुचित होते थे और मन ही मन कहते थे—क्षणिक परिचय के बल पर मैं अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहा हूँ। पर इस ऋण से कभी छुटकारा न मिलेगा, यह सौदा सस्ता नहीं है।

लेकिन खाँ साहब से अगर कोई मोहनलाल का परिचय पूछता तो यही कहते—'भतीजा है मेरा। वे मेरे बड़े गहरे दोस्त हैं। लड़के को सीधा मेरे पास भेज दिया। और न भेजते तो करते भी क्या, मेरा गुस्सा तो जानते हैं न!' कहकर ताली पीट कर हँसते, फिर धीरे से कहते—'लड़का है, हीरा-मोती!'

'लड़का है, हीरा-मोती!' बाहर कहते और घर में कहते शबनम की अम्मी के सामने। यह दूसरा सुनने वाला इस विषय से तटस्थ था। पर अम्मी से न रहा गया। बोली—'एक दिन बुला लो भीतर, जरा मैं भी बात कर लूँ। तुमको तो 'चाचा' कहता है, पर्दा काहे का!'

खाँ साहब ने कहा—'अजी एक दिन क्या, अभी लो।' और वे मोहनलाल को बुला लाये बाहर से।

अम्मी छिपी थीं आड़ में। पुकारा तो झिझकती हुई आई बाहर को। ख़ाँ साहब ने कहा भतीजे से—'यह तुम्हारी अम्मी हैं।'

मोहनलाल ने मुँह से कुछ न कहा। ओठों पर तनिक-सी मुस्कान आई। नीचे को झुका और बस अम्मी के पैर छू लिये चुपचाप।

दिल भर आया अम्मी का। सिर पर हाथ धरा और धीरे से बोलीं—'बैठो बेटा!'

खाँ साहब बाहर खिसक गये। अम्मी घर के हाल-चाल पूछती रहीं और मोहनलाल सिर डाले-डाले उत्तर देता रहा।

हवा रुकी थी और आसमान गरम था। आँगन के एक किनारे पर धूप चिलचिला रही थी। मोहनलाल के मुँह पर पसीने की बूँदें छा गईं। देख पाकर अम्मी ने पुकारा—'बेटी, पंखा तो दे जाओ।' और तब एक लड़की शरमाती-शरमाती आई और पंखा सामने रख कर ओट में ओझल हो रही।

अम्मी पंखा करती-करती बोलीं—'यह शबनम है, तुम्हारी बहिन।'

मोहनलाल ने कहा—'अच्छा।'

अम्मी बोलीं—'पढ़ रही है। स्कूल तो नहीं जाती, घर पर मास्टर पढ़ाते थे। उन्हें अभी कोई नौकरी मिल गई है। अब कोई नया मास्टर ढूँढ़ रहे हैं।'

मोहनलाल ने कहा—'जी।'

फिर अम्मी बोलीं—'तुम्हारी क्या ख़ातिर करूँ बेटा!'

मोहनलाल ने लजा कर कहा—'आप कैसी बातें कर रही हैं। खातिर तो किसी बाहर के आदमी की होती है।'

अम्मी हँस दीं, बोलीं—'तो घर की तरह ही रहो यहाँ। जी न लगा करे तो भीतर चले आया करो। कोई तकलीफ हो तो मुझसे कहा करो।'

मोहनलाल ने मुस्कुरा कर कहा—'मुझे आपने कभी बुलाया ही नहीं, मेरा तो रोज जी करता था।'

अम्मी ने तनिक झेंप कर कहा—'अच्छा, अब तो आना!'

× × ×

छठी तारीख को स्कूल से वेतन लेकर लौटे तो पण्डित जी ने पूछा—'कितना भेज दूँ मोहनलाल को?'

पत्नी ने कहा—'बीस तो भेजो ही।'

बीस वे अलग किये। तीस बचे। इसी में सब महीने का खर्च चलाना है। कर्जा देना है, कपड़े बनवाने हैं। कलसा टूट गया है पर मोहनलाल को बीस भेजना ही है। बीस भी न भेजेंगे उसे?

दूसरे दिन स्कूल जाने लगे तो कहा पुकार कर—'मनीआर्डर लिख कर रक्खे जाता हूँ। मुन्ने को डाकखाने भेज देना, रुपये देकर।'

और शाम को स्कूल से आते ही पूछा—'भिजवा दिये रुपये?'

'ना।'

'क्यों?'

कहने ही जा रही थीं कि मुन्ने बोल उठा—'भैया ने रुपये भेजे हैं और चिट्ठी आई है।'

चिट्ठी ताख में रक्खी थी शीशा के पास, सो वह फौरन उठा लाया। पण्डित जी पढ़ने लगे—

··मैं बहुत सुख से हूँ। ये पन्द्रह रुपये भेज रहा हूँ। अम्माँ को धोती नहीं रही है। उनके लिए धोती ले लेना और आप नया जूता ले लें। पैरों में कंकड़ी चुभती होंगी। मुन्ने और प्रेमा के लिए बने-बनाये कपड़े यहाँ से खरीद कर भेज दूँगा। आप के लिए एक कोट का कपड़ा देखा है, बहुत अच्छा रहेगा। मुझे एक ट्यूशन और मिल गया है। आशा है, अगले महीने में और ज्यादा भेज पाऊँगा।......

पण्डितजी ने चिट्ठी कलेजे से लगा ली और लेट रहे आँखें मूँद कर।

प्रेमा अभी स्कूल से नहीं आई थी। मुन्ने बाहर चला गया तो पत्नी ने पास आकर कहा—'लो।'

पंडित जी उठ बैठे। आँखें सजल थीं। पत्नी ने पन्द्रह रुपये हाथ पर धर दिये। फिर गद्‌गद् होकर कहा—'माथे से लगा लो।'

पण्डितजी ने रुपये माथे से लगा लिये। धोती के छोर से आँखें पोंछी, फिर रुँधे गले से कहा—'मैं उसका पिता होने योग्य न था!'

और संवरण न हुआ। छर्-छर् करके आँसू गिरने लगे मोहनलाल की माँ के। वह भी कहना चाहती थी—'मैं माँ होने के योग्य न थी'—पर काँपते ओठों से शब्द न निकले।

× × ×

खाँ साहब को कविता का बड़ा भारी शौक था। सभी प्रसिद्ध कवियों के 'दीवान' आलमारी में चुने रक्खे थे। खुद भी कविता करते थे! पर मुशायरे से उन्हें चिढ़ थी। कविता को 'स्वान्तः सुखाय' मानते थे। और बहुत अंशों में उससे सुख उठाते भी थे।

पर शबनम को तो इन कवियों ने जैसे पागल कर दिया था। उसे कोर्स की किताबें न भाती थीं। दीवान सामने खोल लेती और धीरे-धीरे गुनगुनाती रहती। यों ही रूप बरसता था, तिस पर अब लड़कपन बिदा

माँग रहा था। बचपन में वह बड़ी शोख और चपल थी। सो सब जाने कहाँ विलीन हो गया और आँखों में शरम आ बसी।

और वह जाने क्या-क्या सोचती रहती। अजीब-अजीब ख्याल बँधते। बादलों के साथ उड़ती फिरती। वटाएँ उठतीं तो खिड़की में बैठ कर टुकुर-टुकुर उन्हें निहारती रहती और हवा के साथ उड़ती नन्हीं-नन्हीं बूँदें उसके मुख पर, ओठों पर, बालों पर आ-आकर गिरतीं। उसे कोई चिन्ता-फिक्र न थी। तो भी प्रतिदिन पश्चिम में डूबती सन्ध्या की उदासी देख कर वह सिहर उठती। रात को जो कभी आँख खुल जाती, तारों के साथ तैरती फिरती आसमान में।

आज मोहनलाल के विषय में वह सोचती रही।

मोहनलाल उसके निकट 'परदेशी' था और वह उसे यही समझती थी और उसी तरह व्यवहार करती थी। वह कभी मोहनलाल के 'निकट' न हुई। मोहनलाल घर में आता तो वह सामने से हट जाती।

पर मोहनलाल से उसे विरक्ति न थी। विरक्ति क्यों होती? पर मोहन उसका है कौन?

माता-पिता का रिश्ता उसने न माना। जैसे देखने से पहले तटस्थ थी, उसी तरह देख कर भी 'निरीह' रही।

खाँ साहब कहीं गए हुए थे। रात पड़ गई तो शबनम एक दीवान लेकर बैठी और पढ़ने लगी :—

'हम लोग आकाश में पास-पास रहने वाले दो नक्षत्रों की तरह हैं, जो सारी रात जग कर एक दूसरे को देखते रहते हैं; पर कभी भी एक दूसरे को छू नहीं सकते। उनके बीच 'शून्य' रहता है और शताब्दियाँ पर शताब्दियाँ बीतती चली जाती हैं। क्या हम लोगों की जिन्दगी भी इसी तरह कट जायगी?'

पढ़ कर वह चौंक उठी और खिड़की पर मुँह रख कर देखने लगी। आँगन में दूधिया चाँदनी बिखरी थी और बगीचे के छोटे-छोटे पेड़ नींद

में सो गये थे। उस किनारे पर कोठरी के भीतर लालटेन .जल रही थी। किताब सामने खुली पड़ी थी और मोहनलाल नीचे को सिर किये बैठा था।

देख कर जाने कैसे एक अज्ञात दुःख से उसका हृदय भर उठा...। हम लोग आकाश के दो नक्षत्रों की तरह हैं......

× × ×

दिन, सप्ताह और फिर महीने बीतते चले। मोहनलाल ने यहाँ आकर जैसे विश्व देखा। गरीब भी देखे और अमीर भी। अध्यवसायी देखे और विलासी। जिन चीजों को अलभ्य मानता था, उनसे घृणा करने लगा। जीवन क्या है, यह थोड़ा-थोड़ा समझने को मिला।

वह अथक परिश्रम करता। सुबह से शाम तक एक मिनट खाली न मिलता। पर तो भी प्रसन्न था। ऐसा लगता था कि असफलता आगे खड़ी है।

रविवार की छुट्टी थी। सोमवार को मोहनलाल कालेज के फाटक पर पहुँचा, तो लड़कों का बड़ा भारी झुण्ड खड़ा था। क्या है? पता चला—नेहरूजी पकड़ लिये गए। हड़ताल कर दी है और अब जुलूस निकालेंगे।

देखते-देखते सारी सड़क भर गई। फिर जुलूस चला। बड़ी कक्षाओं के लड़के आगे थे। तिरंगा झण्डा साथ चल रहा था और नारे लगाते थे। एक लड़का कहता—'पण्डित जवाहरलाल नेहरू की—' और पीछे से एक गगन-भेदी ध्वनि होती—'जय!' मोहनलाल को तो जैसे होश न रहा।

वह जवाहरलाल नेहरू को 'देवता' मानता था। कोठरी में उनकी तसवीर टँग रक्खी थी और चाहे जब उस तसवीर के आगे सिर झुका लेता था।

सारे शहर का चक्कर लगा कर लड़के तितर-बितर हो गये। मोहन-लाल दिया जले अपने डेरे पर पहुँचा...।

इस बात का स्वप्न तक न था कि कल की उस 'देशभक्ति' का क्या प्रतिफल होगा। प्रिन्सिपल ने बुला कर डाँटा—'तुम्हारा वजीफा बन्द कर

दिया जायगा। 'फ्रीशिप' काट दी जायगी!' तो मोहनलाल के होश उड़ गये।

इस बार किसी तरह माफी मिली—आगे को अब सावधान रहो।

परन्तु एक सप्ताह कठिनाई से बीता होगा कि लड़कों ने इस बार निश्चय किया—कालेज पर तिरंगा झण्डा लगे। अगर प्रिन्सिपल न मानें तो हड़ताल कर दी जाय।

और प्रार्थना-पत्र पर सब के हस्ताक्षर होने लगे। मोहनलाल धर्म-संकट में पड़ा था। क्या करे, क्या न करे? रात भर सोचता रहा। कोई उपाय नजर न आता था। यदि वजीफा और फ्रीशिप कट गईं तो फिर क्या करेगा? कहाँ से फीस देगा, कहाँ से खर्च चलायेगा!

आज ही छोटी बहिन की लिखी चिट्ठी मिली है कि—भैया, मेरे लिए बुन्दे और एक जोड़ी चप्पल भेज दो। मुन्ने ने अपनी किताबों का तकाजा किया है, उसे 'एटलस' चाहिये।

जिन माँ-बाप ने अपना रक्त सुखा कर उसे इस काबिल किया है, उनकी वह क्या 'सेवा' कर रहा है? चार टके भेज देता था, सो अब वे भी बन्द समझो। कोई 'आसरा' नहीं, कोई सहारा नहीं।

× × ×

लड़कों ने बहुतेरा कहा। मोहनलाल ने उस झण्डे की 'शर्त' पर हस्ताक्षर न किये। उसकी आत्मा में जाने कितनी निर्बलता आ गई थी।

तब एक साहसी लड़के ने वहीं क्लास में चिल्ला कर कहा—'ऐसे देशद्रोही भी हमारे कालेज में हैं, ऐसे पापी और स्वार्थी!' सभी मोहन-लाल को बुरा कहने लगे।

उस साहसी लड़के के पिता बड़े भारी रईस थे। शहर में उनके दो 'सिनेमा-हाउस' चल रहे थे।

फिर जाने किस लड़के ने पीछे से कहा जोर से—'धिक्कार है!'

मोहनलाल पत्थर होकर सब सुनता रहा।

शाम को कालेज से बाहर आया तो सब ओर से उसके ऊपर अँगुलियाँ उठ रही थीं। चारों ओर से 'शर्म-शर्म' और 'देशद्रोही' की आवाजें आ रही थीं। वह नीचे को सिर डाले, उन सब के बीच से चला आया।

पर रात को जब अपनी कोठरी में बन्द होकर बैठा तो अपनी बेबसी और गरीबी की याद करके रोने लगा। क्या वह सचमुच तिरंगे झण्डे का अनादर चाहता है? उसके भी हृदय है, उसके भी आत्मा है। पर उस पर गरीबी है, ऐसी गरीबी कि कोई जानता नहीं है। उस पर बेबसी है, ऐसी बेबसी कि जिसे वही जानता है।

जवाहरलाल की तसवीर सामने दीवार पर टँगी थी। उनसे रोकर बोला—'मैंने पाप किया है क्या? तुम भी क्या मुझे 'देशद्रोही' समझते हो?'

वह तसवीर कुछ न बोली।

खाँ साहब ने एक लड़के से यह सब समाचार सुने तो दुखी हुए। मोहनलाल से आकर कहा—'बेटा, तुमने यह ठीक नहीं किया। हम तो तब खुश होते, जब लिस्ट में सबसे ऊपर तुम्हारा नाम जाता!'

मोहनलाल लज्जित होकर खड़ा रहा।

खाँ साहब ने कहा—'मुल्क की खिदमत भी आदमी के लिए एक बड़ा भारी फर्ज है। हाँ, तकलीफें इस रास्ते में जरूर हैं, लेकिन जिन्दगी उसी की है जो दूसरों के लिए जिये और दूसरों के लिए मरे!'

मोहनलाल अपराधी की तरह सिर डाले खड़ा रहा।

खाँ साहब की आदत थी हर बात के आखीर में 'खैर' कहते थे। सो वही 'खैर!' कहा और टहलते-टहलते आगे बढ़ गये।

शाम हो गई थी। 'डेअरी' वाला अपना भोंपू बजाता चला जा रहा था और मन्दिर के ऊपर झुके पीपल की कुछ डालियाँ लाल दीख रही थीं। पच्छिम में आसमान सुर्ख होकर काला हो गया था।

कि नौकर आकर बुला गया—'अम्मीं याद कर रही हैं......।'

बूढ़े मास्टरजी, जो शबनम को पढ़ाने आते थे, अचानक बीमार पड़

गये। ऐसे बीमार हुए कि लंघन पर लंघन करने लगे। पढ़ाई फिर बन्द हो गई।

अम्मीं को उन बूढ़े मास्टर जी पर मानों तनिक भी श्रद्धा न थी। हँस कर बोलीं—'मैं तो मुये को पान लगाते-लगाते थक गई।'

यही कहना था कि—अगर मोहनलाल का कुछ हर्ज न हो तो अभी कुछ दिन वही शबनम को पढ़ा दिया करे।

मोहनलाल ने फौरन स्वीकार कर लिया और वह नित्य नियम से शबनम को पढ़ाने लगा।

कालेज का झगड़ा खतम होने के कोई आसार दिखाई न देते थे। लड़कों में बहुत जोश था। सब तरह की हानि सहने को तैयार थे—किसी तरह इस तिरंगे झण्डे की शान रहे!

प्रिन्सिपल बड़े हठी थे। वे भी अपनी जिद पर डटे थे, हालाँ कि हिन्दुस्तानी थे। तब लड़कों ने एक सभा की। इस अन्याय के विरुद्ध प्रस्ताव पास किया और नारे लगाये—'देशद्रोहियों का—'

'नाश हो!'

तब तक एक साहसी देशभक्त जाने किधर से कालेज की बिल्डिङ्ग पर चढ़ गया। जल्दी से तिरंगा झण्डा लगा दिया ऊपर और चिल्लाकर बोला—'झण्डा ऊँचा रहे हमारा!'

प्रिन्सिपल भी आ गये थे। पुलिस बुला ली थी। कानून के अनुसार उस देशभक्त लड़के को पुलिस पकड़ ले चली। पीछे से लड़कों की भीड़ चिल्लाती रही—

'शिवशंकर जिन्दाबाद! एस० एस० मिश्रा जिन्दाबाद!'

हार कर अधिकारियों ने कालेज बन्द कर दिया और यह सब समाचार अखबारों में छप गये। शिवशंकर मिश्र का फोटो निकला।

मोहनलाल का कालेज जाना नहीं होता था। सुतरां सुबह-शाम दोनों बेला वह शबनम को समय देने लगा।......वही 'परदेशी' आँखों के

आगे बैठा रहता। जाने कितनी मेहनत करके उसे पढ़ाता, कितना दिल लगा कर। इस तरह तो आज तक कभी पढ़ने को मिला ही नहीं था। मोहनलाल की विद्या और लगन देख कर वह चकित रह गई।

बहुत मीठा बोलता था और बहुत सरल हँसी हँसता था। ऐसा कौन निर्दयी होगा जो इस स्नेह-दान की अवहेलना कर दे! हाय, उसने मोहनलाल के बारे में क्या सोच रक्खा था?

और मोहनलाल को कविता से रुचि है—जान कर वह जाने कितनी प्रफुल्लित हुई। स्पष्ट करके तो नहीं बोल पाती थी। यों ही संकेतों से कविता की बात उठाती थी। तो उसी तरह एक दिन पूछा कि 'टैगोर की शायरी आपने पढ़ी है?'

तो मोहनलाल ने टैगोर की एक कविता सुनाई, जिसका भावार्थ था :—'यदि तुम्हारी यही इच्छा है तो मैं अपना गीत बन्द कर दूँगा। इससे तुम्हें दुख लगता है तो मैं तुम्हारे मुख से अपना नेत्र हटा लूँगा...'

शबनम को जैसे किसी ने बरफ में ढकेल दिया हो। स्तब्ध रह गई घड़ी भर। फिर धीरे से कहा—'लिख दीजिये इसे—'

× × ×

पण्डितजी ने वे खबरें पढ़ीं तो विचलित हो उठे। बोले—'मोहन-लाल ने भाग लिया होगा तो उसका वजीफा बन्द हो जायगा। यहाँ के कालेज का सा हाल होगा—यहाँ सब लड़कों के वजीफे कट गये हैं।'

सुन कर पत्नी बहुत चिन्तित हुई, कहा—'तुम कल उसे एक चिट्ठी लिख दो—इस इल्लत में न फँसे।'

पण्डितजी ने हँस कर कहा—'इसे तुम 'इल्लत' कहती हो! देश में त्राहि-त्राहि मची है। जनता पर अत्याचार हो रहा है। नेता जेल में ठूँस दिये गये। इसके विरुद्ध सिर उठाना क्या अधर्म है? सरकार अगर अन्धी होकर अत्याचार करे, तो क्या हम उसका विरोध भी न करें?'

पत्नी ने कहा—'पर हमारी तो औरों की जैसी हालत नहीं है। जो कहीं सचमुच उसका वजीफा कट गया तो?'

'हाँ, सो तो ठीक है। लेकिन तुम यह बताओ कि मैं पिता होकर पुत्र को 'अधर्म' का मार्ग सुझाऊँ, यह तुम्हें जँचता है?'

सुनकर पत्नी चुप रही। पण्डितजी ने सोच कर कहा—'वह अपना भला-बुरा स्वयं समझता है। कुछ भी लिखने की जरूरत नहीं है।'...

...मोहनलाल को और कोई उपाय नहीं था। वह रोज प्रिन्सिपल के दरवाजे पर जा कर खड़ा हो जाता। वे बाहर निकलते तो झुक कर प्रणाम करके लौट आता। इसी तरह कई दिन किया तो प्रिन्सिपल एक दिन पूछ बैठे, 'कुछ कहना है तुम्हें?'

मोहनलाल ने डरते-डरते कहा—'साहब, मेरा वजीफा?'

साहब ने हँस कर कहा—'मिलेगा।'

'साहब, फ्रीशिप!'

'फ्रीशिप भी।'—साहब ने हँस कर कहा।

पर हड़ताल न खुली। शिवशंकर मिश्र को एक महीने की सादी जेल हो गई और कालेज बन्द रहा। कालेज में चमगादड़ बोलने लगे।

मोहनलाल को और कहीं आना-जाना नहीं। मोहल्ले में ट्यूशन कर आता और सुबह-शाम शबनम को पढ़ा देता। बाकी वह अपना कोर्स तैयार करता रहता।

और इस तरह एक महीना बीत गया......।

...ट्यूशन के रुपये पहली को मिल जाते थे। उसी दिन मोहन-लाल मनीआर्डर कर देता था। डाकखाने से लौटा तो सीधा भीतर चला गया। अम्मीं ने पुकार कर अपने पास बुला लिया। फिर बड़े प्यार से उसका हाथ पकड़ कर हथेली पर पन्द्रह रुपये रख दिये।

'यह क्या?'

प्यार से बोलीं—'तुम इनका घी-दूध खा लिया करो। शबनम से रोज सिर मारते हो, कुछ खाओ भी तो!'

मोहनलाल को जैसे किसी ने आकाश से ढकेल दिया। सुन्न होकर बैठा रहा। तो अम्मीं ने धीरे से कहा—'रख लो, जेब में रख लो।'

मोहनलाल बहुत व्यथा पा रहा था। उसने बड़ी कठिनाई से कहा—'यह रुपये मैं न लूँगा।'

अम्मीं चकित हुईं—'क्यों?'

मोहनलाल की आँखों में पानी भर आया था। मुँह फेर कर बोला—'आप अगर कहें तो यहाँ से अपना सामान कहीं और जगह उठा ले जाऊँ—'

अम्मीं चुप।

मोहनलाल ने उस दिन फिर शबनम को नहीं पढ़ाया। वहाँ से उठ कर अपनी कोठरी में आ पड़ा। खाट में सिर दे कर पड़ रहा और फूट-फूट कर रोने लगा। हाय, उसे दुनियाँ इतना 'पतित' समझती है! वह इन रुपयों के लिए शबनम को पढ़ा रहा था? वह खाँ साहब से लड़की की पढ़ाई के रुपये वसूल करेगा? बिना पैसे के वह किसी का काम नहीं करेगा। वह केवल सौदा करता है। धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य वह नहीं जानता। हाय, वह इतना 'अधम' है सब की आँखों में!

मन का दुःख और वेदना आँसू बन कर बाहर निकलने लगी।

× × ×

दूसरा दिन परिवर्त्तन ले कर आया। कालेज के अधिकारी झुक गये थे। झंडा लगाने की शर्त्त मान ली गई थी और विद्यार्थियों को सब तरह का आश्वासन दिया गया था। आखिर किसी तरह बदनामी तो बन्द हो।

उस दिन पढ़ाई नहीं के बराबर हुई। 'कामन रूम' में सब अध्यापक और विद्यार्थी एकत्र हुए। प्रिंसिपल की इस उदारता के लिए 'धन्यवाद'

दिया गया। शिवशंकर मिश्र को जेल से छूटने पर बधाई दी गई। कार्य-कर्त्ताओं को साधुवाद मिला और जो विपक्ष में रहे, जिन्होंने पीठ दिखाई थी, ऐसे स्वार्थियों के लिए गालियाँ दी गईं, 'शेमशेम' पुकारा गया।

मोहनलाल सबके पीछे कोने में बैठा था। सभा समाप्त हुई तो चुप-चाप मुँह छिपाये चला आया।

डेरे पर पिता की चिट्ठी पड़ी मिली। लिखा था—

...'तुम्हारी कायरता की बात सुन कर चित्त को अतीव क्लेश हुआ। अस्तु। ईश्वर जो कुछ करता है, अच्छा ही करता है।'......

मोहनलाल ने चिट्ठी उठा कर पटक दी। वह जाने क्या कहने जा रहा था कि जवाहरलाल नेहरू की तसवीर पर नजर जा पड़ी तो सिर झुक गया नीचे। अब और वहाँ बैठा नहीं गया। आत्मा में जाने कितना कोलाहल मचा था।

व्याकुल होकर मोहनलाल बाहर आ खड़ा हुआ। सड़क सूनी पड़ी थी। कुछ भी द्रष्टव्य नहीं था। तब वह धीरे-धीरे भीतर की ओर चला आया। बरामदा पार किया और सीढ़ियाँ चढ़ने लगा, एक-एक करके।

नौकर ऊपर से उतर रहा था। मोहनलाल को आता देखा, तो वहीं सीढ़ी पर एक ओर को हो रहा और फिर यह कहा—'ऊपर कोई नहीं है। अम्मीं इसी गाड़ी से पीहर गईं हैं। मौत हो गई है वहाँ। कोई तार आया था शबनम बीबी साथ गई।'

तब मोहनलाल धीरे-धीरे पैर रखता सीढ़ियाँ उतरने लगा।

× × ×

पण्डित जी को जीवन में नया अनुभव हुआ। मेरठ के एक बहुत बड़े वकील साहब का पत्र आया। दर्शनों की लालसा प्रकट की थी। पण्डितजी ने स्वीकृति दे दी। वे एक दिन आ पहुँचे।

वे याचक थे और पण्डितजी दाता। मोहनलाल को माँगा—कन्या है एक। पण्डितजी क्या कहें, क्या न कहें? उनके आगे जुबान न

खुलती थी। पत्नी झरोखे में से देख रही थीं। मुहल्ले भर से चीजें माँग-माँग कर वकील साहब की खातिर के सामान जुटाये थे। जलपान में ही कई रुपये उठ गये।

अन्त में विवाह तय हो गया। केवल एक शर्त यह रही कि—मोहन लाल बी० ए० कर ले। वकील साहब ने यह भी मंजूर कर लिया। लड़की तब तक इण्टर कर लेगी।

पीछे रोज बातें होतीं। मुन्ने कहता—'मैं तो उन्हीं से अँगरेजी पढ़ लिया करूँगा।' प्रेमा कहती—'मैं किसी को नहीं पढ़ने दूँगी। मेरी भाभी हैं, मैं दिन भर पढ़ूँगी और कसीदा सीखूँगी। रात को बस, उन्हीं के पास सोया करूँगी!'

पण्डितजी आह्लादित होते। पत्नी कहतीं—'मेरा आदर न करेगी!' और फिर हँस देतीं।

समय से मोहनलाल को यह खबर मिली तो उसने अपना सिर पीट लिया।

यहाँ उसने स्कूल की लड़कियों के रंग-ढंग खूब देखे थे, अनेक किस्से और प्रेम कहानियाँ सुनने को मिलीं। दिन-रात स्कूल और कालेज की लड़कियाँ आँखों के सामने से निकलती रहतीं, जिनके रूप और फैशन पर मोहनलाल खीझ-खीझ उठता था।

उन्हीं स्कूल की लड़कियों के बीच से एक उसके गले बाँधी जायगी—सोच कर मोहनलाल को असंतोष और चिन्ता ही हुई। तिस पर वह अमीर है और हमारे घर का यह हाल है। वह मन ही मन पिता पर बहुत क्रुद्ध हुआ। कोई उत्तर न लिखा।

× × ×

अम्मीं पीहर से लौट न पाई थीं कि एक दिन अनजाने ही खाँ साहब की 'बदली' हो गई बरेली को। यहाँ जनरल पोस्ट आफ़िस में थे। थोड़ा काम था और चैन से गुजरती थी। अब दस साल बाद अचानक तबादले

की खबर आ गई। बड़ा रंज हुआ। पर विवशता थी। बरेली को बिस्तर बँध गये और उधर से ही अम्मीं को लेते गये।

अम्मीं तो बरेली में आकर रोने लगीं। यहाँ वे आराम और अमन कहाँ! बस्ती में मकान किराये पर ले लिया था। सामने गली से नाली की बदबू आती। पीछे एक आटे की कल चलती रहती, उसका धुँआ उड़ता रहता सिर पर। पास-पड़ोस में जाने कैसे गलीच आदमी रहते थे। औरतें आमने-सामने खड़ी होकर लड़ती थीं। शरम-हया किसी को छू न गई थी।

शबनम ने एक कमरा अपना कर लिया था और उसी में दिन और रात भर पड़ी रहती थी। वहाँ की सब बातें याद आतीं तो कलेजा टूटने लगता। हाय, वे दिन सपना हो गये। अक्सर उसे मोहनलाल की स्नेह-कारिता याद आ जाती। उसका पढ़ना याद आता तो रोने लगती। सोचती रहती उसी दरवाजे वाली कोठरी में बैठे होंगे चुपचाप। क्या कभी उन्हें शबनम की याद आती होगी? चाहे याद करते हों कभी, चाहे न न भी करते हों—फिर रोने लगती। मोहनलाल उसके कौन हैं? कोई नहीं। अब उनसे कभी भेंट होगी? शायद कभी न होगी। जी बहुत छटपटाने लगता तो दीवान ले लेती। पर कविताएँ सब फीकी लगतीं। उसका दिल जाने कैसा हो गया था। रोना चाहती रहती थी हर समय। इस तरह दिन बीत रहे थे और दिन इस तरह बीतते गये। सप्ताह बीते, महीने बीते और एक साल बीतने पर आ गई। जीवन जैसे हवा का झोंका है, जो अनजाने आता है और चला जाता है।

× × ×

मोहनलाल ने सब त्यागा। वह सब भूला। उसके जीवन का लक्ष्य रहा—परीक्षा और पढ़ना।

जो कहीं पढ़-लिख कर वह कोई अच्छा 'पद' पा सका तो सब दुख दूर होंगे।

वास्तविक सुख और आनन्द तो थे ही नहीं। अब उसने काल्पनिक भी छोड़ दिये। स्मृति का सुख बहुत सरल है। पर मोहनलाल ने उसे भी जाने दिया। वह सारे दिन मशीन की तरह लगा रहता। पढ़ता, ट्यूशन करता, खाता; और बीच में रात के कुछ घण्टे मौत के सन्नाटे की तरह निकल जाते।

खाँ साहब का दिल न माना। एक दिन अचानक चल खड़े हुए बरेली से। अम्मीं ने याद दिलाई—'फल लिये जाना उसके लिए।' शबनम से बोलीं—'एक खत तो लिख दे मेरी ओर से। लिख—तू ऐसा बेमुरव्वत बेटा निकला—'

हँस कर खाँ साहब ने कहा—'हैं-हैं! यह क्या लिखवा रही हो!'

अम्मीं बोलीं तुनुक कर—'यही लिखवाऊँगी—उसने आखिर खत क्यों न भेजा?'

खाँ साहब ने कहा—'अच्छा, तो लिखो यही!'

और मोहनलाल के हाथ में फलों की टोकरी के साथ उसकी अम्मीं की चिट्ठी पहुँची। खाँ साहब मिलने-जुलने चले गये तो वह चिट्ठी पढ़ी। ऊपर तो वही अम्मीं की दी हुई प्यार की गालियों की बौछार थी और नीचे एक कोने में यह लिखा था महीन हरूफों में—

...हम लोग आकाश में रहने वाले दो नक्षत्रों की तरह हैं, जो कभी एक दूसरे को छू नहीं सकते...।

मोहनलाल की आँखों की कोरों में दो आँसू आये और अलग-अलग नीचे चू गये।

× × ×

जाने कैसे-कैसे परीक्षा सिर पर आ पहुँची। मोहनलाल तन-बदन की सुधि भूल कर लगा था। रात आँखों में निकल जाती। मुश्किल से

कभी सोता था। उसे किसी तरह 'फर्स्ट क्लास' लाना है—किसी तरह। इसी पर तो उसके जीवन की सारी सफलता निर्भर है। सोने के लिए बहुतेरी रातें मिलेंगी—अभी मेहनत कर लो—झपकी आती तो मोहनलाल पानी से आँखें धो लेता। आँखें धोकर पढ़ता...।

क्रमशः पर्चे होने लगे। मोहनलाल को हर पर्चा ऐसा लगता मानो खेल है। हर पर्चे पर वह उछल पड़ता था। कलम कागजों पर दौड़ती चली जाती और कापी का आखिरी पेज आ जाता। खुशी से शिथिल होकर बाहर निकलता था। फिर अगला पर्चा तैयार करता...।

अन्त में, गणित का नम्बर आया। पर्चा समय पर समाप्त हो कर घंटी बज गई। लड़के बाहर निकले तो चेहरों पर उदासी और थकान अंकित थीं। मोहनलाल की हालत तो और भी दयनीय थी।

कुल आठ प्रश्न आये थे, जिनमें से पाँच हल करने थे। लेकिन पाँच तो शायद ही कोई कर पाया होगा—ऐसा कठिन पर्चा था।

मोहनलाल ने फिर भी चार किये थे जिनमें एक बारह नम्बर वाला 'आवश्यक' था और तीन सात-सात के। मोहनलाल पर्चे की पीठ पर अपने उत्तर लिख लाया था...।

एक सहपाठी दूसरे साथी से अपना उत्तर मिला रहा था। मोहनलाल उन्हीं के पीछे आ खड़ा हुआ। सहपाठी से उस लड़के ने पूछा—'इस बारह वाले का क्या किया तुमने ?'

'इसे तो ठीक किया है।'

'क्या जवाब आया ?'

उसने बतलाया—'एक्स ईक्वल टु टू प्लस माइनस अण्डर रूट टू।'

मोहनलाल ने अपना उत्तर देखा—एक्स ईक्वल टु माइनस प्लस अण्डर रूट टू। तो उसे रोक कर कहा—'तुमने गलत किया है।'

साथी ने पूछा—'कैसे ?'

कहा—'माइनस प्लस होगा।'

साथी ने सिर हिला कर कहा—'हरगिज नहीं, इनका देखो !' और उसने साथी का उत्तर दिखलाया—प्लस माइनस था। तीसरा लड़का एक और आ खड़ा हुआ। उसका भी वही उत्तर था। चौथे का देखा—वही।

मोहनलाल के पैरों तले से जमीन खिसक गई...।

परीक्षा तो समाप्त हो गई थी। खाना-पीना और आराम लेना था अब और भर नींद सोना था। पर मोहनलाल को सब हराम हो गया। जाने-पहचाने लड़कों से मिलता फिरा। सभी का उत्तर प्रायः वही था। और ज्यों-ज्यों वह साथियों से पूछने लगा त्यों-त्यों जी घबराता गया।

प्रोफेसर शुक्ला गणित पढ़ाते थे। और कोई उपाय न सूझा तो उनके पास दौड़ा गया। पर वे घर पर मिले ही नहीं। हार कर डेरे पर लौट आया।

जाने कितनी रातों से नहीं सोया था। पर आज नींद भी न आ रही थी। वह अपने परिश्रम और अध्यवसाय को याद करने लगा जो व्यर्थ होता दीखता था। हाय, उसकी मेहनत का यही फल है?—कष्ट से मोहनलाल रोने लगा। खाना खाने न गया, बत्ती भी न जलाई। खाट में मुँह दे लिया और रोता पड़ा रहा। रोते-रोते जाने कब वह सो गया। पर चिन्ता ने पिंड न छोड़ा। स्वप्न देखने लगा कि—उसका पर्चा बिलकुल खराब हो गया है। एक भी उत्तर सही नहीं है!

अन्धकार का काला वसन पहने विरहिणी प्रकृति नारी उनींदी हो गई थी। सन्नाटा चारों ओर जड़-चेतन को घेरे था। दूर मोहल्ले में कोई पहरा दे रहा था—'जागते रहो!'

मोहनलाल घबरा कर जग उठा। बत्ती जलाई और पर्चा निकाल कर देखा। क्या और उत्तर भी गलत हो गये हैं?

जो कहीं सचमुच उसने गलत किया है तो सर्वनाश समझो! जीवन चौपट हो गया। वह उन प्रश्नों को कापी उठाकर फिर से निकालने लगा

जल्दी-जल्दी। पहला सही निकला, दूसरा भी सही था। पर तीसरा न मिला—सही उत्तर एक्स...प्लस...था और एक्स...माइनस...उसके पर्चे पर नोट था। अब ?

मोहनलाल का कलेजा धक्-धक् करने लगा।

आकुल हो कर वह फिर उस प्रश्न को हल करने लगा—इस बार शायद...प्लस...आ जाय। परन्तु...माइनस आया। तब वह बार-बार उसी को लिखने लगा और बार-बार गलत उत्तर आता गया...।

यहाँ तक कि पूरब में पौ फटने लगी और डालियों पर पंछी बोलने लगे। थक कर मोहनलाल खाट पर लुढ़क रहा।

एकाएक ख्याल आया—उसका वह बारह नम्बर वाला प्रश्न भी गलत हो गया है। तो बेचैनी चित्त को बेधने लगी। उठ कर टहलने लगा। टहलते-टहलते पेंसिल उठा ली और दीवार पर उस प्रश्न को लिख दिया और हल करने लगा। शायद सही हो—शायद सही हो।

परन्तु उत्तर में वही—माइनस-प्लस आ गया ! और सब लड़कों का प्लस-माइनस है। प्लस-माइनस आना चाहिये, प्लस-माइनस। और वह सवाल को फिर लिख कर निकालने लगा। और हरबार माइनस-प्लस आता गया।

लेकिन उससे कहीं पर गलती हो जाती है। और वह दीवार पर लिखता गया—लिखता गया। न खाने की सुधि रही, न पीने की। बराबर यों ही खड़ा था और दीवार पर किनारे-किनारे लिखता चला आ रहा था।

मोहनलाल को जैसे चेतना न रही थी। एक बार खिड़की से बाहर झाँक कर देखा—सूरज सिर से उतर गया है पच्छिम में। बोला—'अभी तो बहुत दिन है, तब तक निकाल लूँगा।'

और धीरे-धीरे रात घिरती आई। पर मोहनलाल अभी तक दीवार पर प्रश्न हल करता चला आ रहा था। किनारे-किनारे अन्धकार कोठरी

में घुस आया। लेकिन मोहनलाल पेंसिल चलाता रहा—चलाता रहा। फिर एकाएक बड़े जोर से चिल्ला कर बोला—'प्लस माइनस! प्लस माइनस!'

अँधेरे में मोहनलाल बाहर को भागा। वह सारे विश्व को बतला देना चाहता था कि सवाल उसने हल कर लिया है। अँधेरे में दरवाजे की ओर भागा। किवाड़ भीतर से ही बन्द थे, पर मोहनलाल को सुधि न रही। वह किवाड़ों को हाथ से पीटने लगा और चिल्लाने लगा—प्लस-माइनस! प्लस-माइसन!'

ऐसा भयंकर शोरगुल सुन कर पास-पड़ोस के लोग भागे आये। मोहनलाल भीतर से किवाड़ें पीट रहा था और चिल्लाता था—'प्लस-माइनस, प्लस-माइनस।'

मुहल्ले के लोग परेशान खड़े थे। भीड़ बढ़ती जा रही थी। क्या मामला है? क्या किसी ने बन्द कर दिया है इसे? क्या बक रहा है? एक आदमी दौड़ कर टार्च ले आया। प्रकाश करके देखा—किवाड़ें बाहर से बन्द नहीं हैं। चिल्ला कर कहा—'भीतर से किवाड़ें खोलो!'

पर मोहनलाल ने न सुना, उसी तरह शोर मचाता रहा।

तब कुछ लोग इधर को दौड़ कर आये। खिड़की खुली थी। लालटेनें ऊपर को उठाईं, टार्च की रोशनी भीतर फेंकी। सामने की दीवार पर टँगी जवाहरलाल नेहरू की तसवीर उस प्रकाश में आलोकित हो उठी। सहसा मोहनलाल चुप हो गया।

'भाई साहब! ऐ भाई साहब!'—आवाज लगाई। मोहनलाल न बोला।

'इधर आइये साहब!'—दूसरी आवाज दी। मोहनलाल न बोला। वहीं खिड़की के पास दबका खड़ा था और प्रकाश से आलोकित जवाहर-लाल नेहरू की तसवीर पर दृष्टि जमाये था।

'कहाँ गया?' 'बेहोश हो गया क्या?'

'मर गया क्या ?' 'आवाज दो, और आवाज दो ।'

खिड़की के इस पार शोर-गुल होने लगा—'पुलिस को बुलाओ, पुलिस को बुलाओ !'

कि मोहनलाल खिड़की पर आ खड़ा हुआ। उसका चेहरा जाने कैसा हो गया था। बाहर वालों की ओर फटी आँखों से देख, ओठों पर अँगुली रख कर उसने सबसे चुप हो जाने का संकेत किया। फिर लोहे की छड़ों पर मुँह रख कर फुसफुसा कर बोला—'शोर न करो भाइयो, देखते नहीं, पण्डितजी बैठे हैं !' और पीछे को घूम कर जवाहरलाल नेहरू की तसवीर के पास पहुँचा। बड़ी श्रद्धा से उनके हाथ जोड़े, सिर नवाया और वहाँ तसवीर की बगल में दीवार से सट कर खड़ा हो गया, सीना तान कर संतरी की तरह।

'क्या पागल हो गया है ?' 'शराब पिये है !'

'अरे पागल हो गया !' 'पागल हो गया बेचारा !'

फिर शोर-गुल मचने लगा।

कि मोहनलाल सीना ताने, बड़ी शान से, धीरे-धीरे कदम रखता फिर खिड़की तक आया। मुहल्ले वालों की ओर आँखें तरेर कर उसने कहा—'हट जाओ यहाँ से। देखते नहीं पण्डितजी सवाल हल कर रहे हैं !'

और दौड़ कर फिर जवाहरलाल नेहरू की तसवीर के पास जा खड़ा हुआ, सीना ताने, दीवार से सट कर।

दीवाली

साहब अपनी कार पर हेड क्लर्क को साथ लेकर चले गये। दफ्तर आज़ाद हो गया।

महीने की पहली तारीख थी और एकाउण्टेण्ट क्लर्क 'बिल' पर साहब का हस्ताक्षर कराके ग्यारह बजे ही बैंक दौड़ गया था। वेतन आ रहा था। सारे दफ़्तर में जोश-खरोश था और पाँचों जूनियर ग्रेड वाले क्लर्क जोर-जोर से बोल रहे थे। एक ने शान में आकर झाड़ू देने वाले छोकरे को गाली दे दी थी और एक ने दरिया दिल होकर चपरासी को चार आने के पान लाने भेजा था, सब साथियों के लिए।

बड़ी क्लॉक घड़ी टिक-टिक करके अविराम गति से चल रही थी और हर आदमी बार-बार दबी निगाहों से उधर देख लेता था। आखिर रामस्वरूप ने धीरे से कहा—'घड़ी कुछ सुस्त है।' तो भोलानाथ ने फौरन अपनी घटिया मेल की रिस्टवाच आँखों के आगे की और शान्त स्वर में बोला—'नहीं, घड़ी ठीक है।'

ब्रजेन्द्र सब फाइलों को तर-ऊपर चुनकर आलमारी में जमा रहा था और उसके गवैया गले से एक मीठी-मीठी तर्ज हौले-हौले निकल रही थी। हीरालाल आँखें मूँदे सामने वाली बड़ी मेज पर दोनों पैर फैलाये, नोटों के सपने देख रहा था। ब्रजेन्द्र की उस स्वर-लहरी से वह विह्वल होकर उकड़ूँ बैठ गया और विनय के स्वर में बोला—ऐ भैया, ऐ ब्रजेन्द्र जरा खुल कर गा दो यार, मजा आ जाये। लो मैं 'ठेका' लगाता हूँ—कहकर उसने दो बार मेज पर 'धूम किट-धूम किट ता, धिन ता,' किया और ऊपर को उचक कर बोला—'हाँ, शुरू !'

ब्रजेन्द्र ने एक बार खिड़की के बाहर झाँक कर देखा, तीनों नौकर तिपाई पर उल्टे-सीधे पड़े बीड़ियाँ फूँक रहे थे। वह कुरसी पर बैठ गया और गर्दन को जरा तिरछी करके सुरीली आवाज से गा उठा—'काहे मारे नजरिया, सँवलिया रे, ओ सँवलिया रे...' मेज पर हीरा लाल का तबला बजने लगा और बाकी तीनों साथी भारी संगीतज्ञ बन गये। क्षण भर में और रसिक होकर मस्ती से झूमने लगे।

देखते-देखते ब्रजेन्द्र का शरीर लचीला हो गया और उसकी गर्दन और कमर भिन्न दिशाओं में मुड़-मुड़ जाने लगीं। समाँ बँध गया, मजलिस का मजा आ रहा था कि ब्रजेन्द्र ने अति सुकुमार होकर अन्तरा छेड़ा—'वृन्दावन की कुंज गलिन में...' तो हीरालाल करुणा-प्रार्थी होकर चिल्ला उठा—'ऐ ब्रजेन्द्र, विद् मोशन ! विद् मोशन !'

ब्रजेन्द्र ने वह प्रार्थना स्वीकार कर ली। उसकी कमर बिलकुल पतली हो गयी, सीने पर उभार आ गया, गर्दन सुराहीदार हो गयी और सिर पर 'दधि की मटकी' दोनों सुकुमार बाँहों से रुक गई और सिर पर मटकी धरे, सलोनी, अल्हड़ गोपी ने तिरछे नयन करके, मानपूर्वक कहा मीठी-मीठी टोन में—

'वृन्दावन की कुंजगलिन में,
मैं गोकुल की गुजरिया रे,
हाय गुजरिया रे, हाय गुजरिया रे !'

और तीनों रसिया जोर से चिल्ला पड़े—'मार डालो !'

पर 'गुजरिया' के नाज़ो-नखरे न रुके, शरमाई भी नहीं, भौंहें टेढ़ी करके, अंचल की ओट बोली—'काहे मारे नजरिया...' कि 'खटाक्' से मेज पर आवाज हुई रूल मारने की और एक तगड़े स्वर ने डाँट कर कहा—'खामोश !' गाना रुक गया। ब्रजेन्द्र मानो वृन्दावन से दफ्तर में आ गिरा। यह मौलाना थे। पाजामे के इजारबन्द में गाँठ लगाते

बोले—'तुम लोग बड़े लोफर हो गये हो, अभी जो कोई अफसर आ धमके अचानक तो क्या कहे ? दफ्तर है कि रंडीखाना !'

सीनियर असिस्टेण्ट मौलाना ठेकेदार के यहाँ से लौटे थे। टेन पर सेंट कमीशन पर एक सौदा तय करके आये थे। जवानी खिसक चली थी। और ग्यारह औलादों के बाप थे। रोब गालिब था, गाना रुका था कि पान आ गये। हीरालाल ने लपककर चपरासी से दोना ले लिया और आगे बढ़कर बोला—'मौलाना, पान—'। मौलाना ने दो बीड़े उठाये और मुँह में तिरछा करके उन्हें ठूँसने लगे तो रामस्वरूप पर नजर जा पड़ी। वह बायें हाथ की अँगुलियों से दाहिने हाथ की हथेली खुजला रहा था। मौलाना ने बड़प्पन से पूछा—'तुम यह क्या कर रहे हो ?'

रामस्वरूप ने मानो परेशान होकर कहा—'जी, खुजली पड़ रही है इस हथेली में।'

मौलाना क्षण भर उसका वह खुजलाना देखते रहे फिर हौले से कहा—'झूठा कहीं का !'

भोलानाथ बिलकुल शान्त था। मौलाना को यह 'शान्ति' भी उचित न लगी, वेतन आ रहा है, इतनी स्थिरता क्यों ?

उससे बोले—'तुम क्या कर रहे हो ?'

'जी, मक्खियाँ मार रहा हूँ।'

कि छोकरे ने दरवाजे पर चिल्लाकर कहा—'आ गये खजांची बाबू!'

सारे दफ्तर ने जैसे एक झटका खाया। जिनके शरीर अस्तव्यस्त थे उन्होंने ने अपको सचेष्ट कर लिया। रामस्वरूप को न जाने क्या हुआ कि वह कुरसी पर बैठा जल्दी-जल्दी दोनों घुटने हिलाने लगा। मौलाना ने खिड़की पर जाकर पीक थूक दी। हीरालाल ने छोकरे से चिल्लाकर कहा—'अबे ओ चुग़त, पानी ले आ थोड़ा, टिकट चिपकाने के लिए।'

छोकरा बराबर जीने पर नजर जमाये था। क्रमशः खजांची बाबू की मैली टोपी दीखी, धड़ दीखा और सम्पूर्ण रूप से ऊपर आ गये। चपरासी

पीछे था। रुपयों का बोझ हमेशा वही लाता था। खजांची बाबू का चेहरा चमक रहा था। छोकरा पानी लेने दौड़ा गया।

'आइये-आइये!'—हर क्लर्क ने कुरसी खाली करनी चाही। खजांची बाबू खड़े हँस रहे थे।

सहसा हीरालाल की नजर पीछे खड़े चपरासी पर गयी। वह रिजर्व कपड़ा, जिनमें नोट और रुपये बँधकर आते थे, चपरासी के कंधे पर झूल रहा था!

हीरालाल के मुँह से अनायास ही निकल गया—'मंगली!'

खजांची ने पास की कुरसी पर धप्-से बैठ कर अत्यन्त थके स्वर में कहा—'भाइयो, बिल पास नहीं हुआ, रुपया नहीं मिला।'

'बिल पास नहीं हुआ!'

'रुपया नहीं मिला!'

'वेतन नहीं मिलेगा!'

दफ्तर में मरघट का-सा सन्नाटा छा गया। किसी के मुँह से कोई आवाज न निकली।

खज़ांची बाबू ने जेब से बिल का कागज निकाल कर मेज पर पटक दिया और चपरासी को पुकारकर बोले—'मंगली, ले रख दे इसे आलमारी में। कल दिवाली, परसों गोधन, नरसों भैया दूज। अब शुक्र को होगा यह पास।'

मौलाना ने शिथिल स्वर में पूछा—'क्यों पास नहीं हुआ बिल?'

खजांची बाबू माथे पर हाथ फिराते, आँखें मूँदे बोले—'हिसाब में गड़बड़ी थी।'

मौलाना ने बिल का कागज अपनी ओर खींच लिया और सबके चेहरे भी उतरे-उतरे हो गये थे परन्तु रामस्वरूप की हालत तरस दिलाती थी। वह जैसे सूखी आँखों से बिलख-बिलखकर रो रहा था, चेहरा सफ़ेद

जर्द। हीरालाल ने उसका यह हाल देखा तो कन्धा झकझोर कर रुँआसे स्वर में बोला—'तकदीर में यही था, साजन मेरे न रो !'

खजांची उठकर खड़ा हो गया और छोकरे से बोला—'हरिया, खिड़कियाँ बन्द कर। उठो भाइयो ! कल दिवाली है।'

'मर गये हम तो !'—भोला साँस खींचकर बोला—'अब घर जाकर क्या मुँह दिखायेंगे औरत को ? आखिरी रुपया आज भुनाया था।'

हीरालाल ने आँखें सिकोड़कर कहा—'गंगा में बाढ़ आई है, बहुतेरा जल है। ऐसे हयादार अगर हो तो डूब मरो जाकर, मत दिखलाओ औरत को मुँह !'

ब्रजेन्द्र ने कुरसी से उठकर कहा—'हमारे पास एक अठन्नी है, जुआ खेलेंगे कल—'

सिर्फ रामस्वरूप निःशब्द था ! उसकी जुबान न खुली, उसने फरियाद न की, उसने दुखड़ा न रोया। वह बिल्कुल स्थिर हो गया था, हिलता-डुलता तक न था, आँखें पथरा-सी गईं थीं। हीरालाल ने उसकी बाँह पकड़ कर कहा—'क्या जनानी सूरत बनाये बैठो हो, चलो उठो !'

× × ×

चौराहे पर 'बस-स्टैंड' के पास आकर रामस्वरूप चल दिया तो हीरालाल ने कहा—'अरे, बस आ रही है, जा कहाँ रहे हो ?'

रामस्वरूप ने अस्पष्ट स्वर में, बिना पीछे मुड़े कहा—'मुझे काम है।' और वह जैसे धक्का देकर अपने शरीर को आगे बढ़ाने लगा।

'वेतन नहीं मिला। कल दिवाली है। उसके पास सिर्फ छः पैसे हैं।'

'वेतन नहीं मिला। कल दिवाली है !'

'कल दिवाली है।'

जैसे दोनों कानों में यही एक गूँज चारों ओर से आ रही थी। राह का भान न था, तन की सुधि न थी, दुनियाँ का होश न था। सामने से

आती एक नौसिखुवे की साइकिल से टकरा कर मानो रामस्वरूप की चेतना लौटी।

साइकिल वाले ने माँफी माँगी। पटरी पर एक फलवाला बैठा था। ऊँचे स्वर में बोला—'शरीफा ले लो बाबू!'

रामस्वरूप को बच्चों का ध्यान आया। सबेरे कह आया था कि मीठा लायेंगे तुम्हारे लिए। छोटे लड़के ने दरवाज़े पर पुकार कर कहा था—'बाबू जी, हमारे लिए बुँदिया लाना और रसगुल्ला।' रामस्वरूप फलवाले से सौदा करने लगा। उसने दो बड़े-बड़े शरीफे उठा लिये और जेब से वही कुल जमा पूँजी, छः पैसे उसके हाथ पर रख दिये और चलने लगा कि फलवाले ने लपक कर उसका कोट पकड़ लिया और उसके हाथ में वे छः पैसे लौटा कर शरीफे छीन लिये और बोला—'दो आने से एक कौड़ी कम न लूँगा!'

रामस्वरूप अवाक् खड़ा रहा घड़ी भर, फिर उसने टोकरे के पास लौट आकर कहा—'छोटे-छोटे दे दो।'

फलवाला बोला—'छोटा कोई नहीं है।'

पर एक किनारे में एक छोटा-सा शरीफा छिपा था। रामस्वरूप ने उसे उठा लिया और करुण स्वर में बोला—'एक और दे दो ऐसा ही।'

फलवाले ने निकट से बाबू जी का चेहरा देखा, जैसे हज़ारों मील की थकान लिये हों। तब उन्हीं बड़े शरीफ़ों में से एक उठाकर बोला—'अच्छा, लो, ले जाओ।'

पैसे उसने अपनी बंडी में डाल लिले और ऊँचे स्वर में पुकार लगाई—'ये मलाई वाले सीताफल, ये जाडे का मेवा......!'

× × ×

सामने वाले घर में मालती अपने किशोर भाई सतीश को लेकर रहती थी। गली में दोनों ओर झाँक कर वह भाग कर इस घर में आ गयी और

रसोई-घर में उचक कर बोली—'भाभी क्या कर रही हो? बाहर आओ ज़रा!'

शान्ता आटा गूँधकर हाथ धो रही थी। सात साल का बड़ा लड़का सूर्या अभी-अभी अपने स्कूल से आया था और छोटे बिन्नू को पास बैठा कर सबेरे की रक्खी रोटी खा रहा था।

'आओ भाभी!'—मालती ने उत्कण्ठा से पुकारा तो शान्ता धोती से हाथ पोंछती बाहर आ खड़ी हुई। मालती ने भारी प्रसन्नता से कहा—'यह देखो, सतीश अभी धोती खरीद कर लाया है मेरे लिए। बड़ी सुन्दर किनारी है भाभी, तुम भी मँगा लो।'

शान्ता ने धोती मालती से ले ली और उसकी तह में अपनी चार अँगुलियाँ डाल कर कपड़ा देखने लगी। कपड़ा उतना अच्छा न था, पर किनारी सचमुच बहुत सुन्दर थी। शान्ता ने हौले से पूछा—'कितने दामों की है?'

'दाम भी ज़्यादा नहीं है'—मालती ने उत्साह से कहा—'कुल साढ़े तेरह रुपये की है। वह दूकानदार का लड़का सतीश का साथी है। कहता था, इसी डिज़ाइन की, इसी किनारी की, बस दो धोतियाँ और हैं। तुम्हें हमारी कसम भाभी, मँगवा लो। मँगवाओगी भाभी? सतीश अभी ला देगा।'

शान्ता धीरे-धीरे हँसने लगी। फिर वह बरामदे से आँगन की ओर बढ़ आई और उजाले में उस सुन्दर-सी किनारी को आँखें भरकर देखने लगी।

तभी सतीश भी आ खड़ा हुआ और सिर हिलाकर बोला—'जी ललचा रहा है भाभी का, पर कंजूसी रोक रही है।'

शान्ता को हँसी आये जा रही थी।

मालती ने प्यार भरे स्वर में कहा—'भाभी, तुम्हारे सलोने मुखड़े पर यह किनारी बहुत खिलेगी!'

सतीश ने मानो उछलकर कहा—'हाँ भाभी, गुलाबी चेहरे पर अंगूरी किनारी ! बस गज़ब कर देगी !'

शान्ता ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से सतीश की ओर स्नेह से ताक कर कहा—'पगला कहीं का ! क्या बक रहा है !'

मालती ने हँसकर कहा—'भाभी, वह तुम पर मोहित है । बहुत छोटा था, तभी से तुम्हें चाहता था ।'

मालती के चेहरे पर लज्जा उभर आई, नयन नत कर लिये और मीठे ताने से सखी से बोली—'आज क्या हो गया है, तुम्हें ?'

कि फटाक से बाहर के किवाड़ खुल गये और रामस्वरूप सिर झुकाये कमरे की ओर जाता दीखा । मालती ने संकुचित होकर माथे का अंचल ठीक किया और तेज़ी से बाहर हो गई । शान्ता भी बढ़ी कि सतीश ने रोककर कहा—'भाभी, दिवाली की 'एक्स्ट्रा चीनी' मिल रही है राशन में । हम लेने जा रहे हैं । तुम मँगवाती हो ? लाओ अपना कार्ड दे दो मुझे ।'

शान्ता ने कहा—'रुको तुम ।' और कमरे के भीतर आकर पति से कहा—'सतीश चीनी लेने जा रहा है, अपनी चीनी मँगवा लूँ उससे ?'

एक छोटी-सी खटिया पूरबी दीवार के सहारे पड़ी रहती थी, जिस पर ओढ़ने-बिछाने के कपड़े चुने रहते थे । रामस्वरूप उसी खाट पर 'चित्त' लेटा था और छत की ओर अपलक ताक रहा था । घड़ी भर वह कुछ न बोला, फिर उसने अत्यन्त स्थिरता से कहा—'उसे जाने दो । आ जायेगी चीनी ।'

शान्ता दो क़दम रखकर सतीश से कह आयी—'तुम जाओ ।' और उसने रसोई-घर में घुसकर जल्दी से चूल्हे पर तवा रक्खा और एक पुराना आसन बिछाकर ताज़ा पानी लेने गई पाइप से ।

फिर दो रोटियाँ सेंककर पति को भोजन के लिए बुलाने आई । रामस्वरूप अभी तक यों ही पड़ा था, सुन्न-सा होकर और दोनों बालक एक

कोने में बैठे शरीफा खा रहे थे और बहुत खुश थे। छोटा बिन्नू बुँदिया और रसगुल्ले की बात बिलकुल भूल गया था और बड़े भाई से कह रहा था—'मेरा शरीफा इत्ता मीठा है—इत्ता मीठा है! ले, थोड़ा-सा खाकर देख!'

शान्ता ने मृदु स्वर में कहा—'चलो, थाली परोसी रक्खी है।' तो रामस्वरूप बिना एक शब्द बोले उठ बैठा और बिना एक शब्द बोले यहाँ आकर भोजन करने लगा।

...शान्ता ने 'लोई' बनाते-बनाते कहा—'मालती ने आज एक धोती ख़रीदी है, साढ़े तेरह में। किनारी अच्छी है उसकी। कहती थी, तुम भी मँगा लो एक। फिर नहीं मिलेगी।'

रामस्वरूप कुछ न बोला।

बच्चे हाथ-मुँह धोने आये थे। बड़े लड़के ने कमीज़ से अपना गीला मुँह पोंछकर उछाह से कहा—'बाबू जी, आज हमें चप्पल ला दो! तनखाह मिली है तुम्हें।'

छोटा कूदकर बोला—'हमें भी बाबूजी!'

शान्ता ने पुलकित होकर कहा—'तू चप्पल पहन कर कहाँ जायगा रे, वह तो स्कूल जाता है। उसके पैरों में कंकड़ चुभते हैं, इसलिए लेगा चप्पल।'

बिन्नू ने सोचकर कहा—'हम बुआजी के घर जायँगे चप्पल पहन कर।'

शान्ता ने हँसकर कहा—'अच्छा, तुम भी लेना।'

पर रामस्वरूप ने मुँह न खोला। दो रोटियाँ समाप्त करके लोटे में मुँह लगा गया और भरा लोटा खाली करके चट् से उठ खड़ा हुआ।

शान्ता ने कातर होकर कहा—'अरे, क्यों उठे जा रहे हो, पेट भर रोटी तो खा लो—'

पर रामस्वरूप न रुका। उसने धीरे से कहा—'मुझे आज भूख नहीं

है।' और पाइप की ओर चला गया, हाथ धोने। शान्ता घड़ी भर स्तब्ध बैठी रही। फिर धीरे-धीरे उसके हाथ नयी लोई तोड़ने लगे।

× × ×

रात को लालटेन बुझाकर जब दोनों स्त्री-पुरुष दो दिशाओं में, दोनों बच्चों को लिये लेट रहे तो रामस्वरूप ने साँस खींचकर कहा—'सो गयीं क्या ?'

'नहीं, सोई नहीं हूँ। क्यों ?'

अँधेरे में साँस खींचकर बोला—'तनख़ाह नहीं मिली।'

'क्यों नहीं मिली तनख़ाह ?'—शान्ता ने हौले से पूछा।

'बिल पास नहीं हुआ।'

शान्ता चुप हो गई।

रामस्वरूप ने आह भरकर कहा अँधेरे में—'कल दिवाली है। घर में एक पैसा नहीं। क्या करूँ ?'

'क्या करूँ ?' उसने ऐसी दर्दभरी टोन से कहा कि शान्ता का दिल हिल गया। अँधेरे में ढाढ़स बँधाती वह मोहभरी वाणी में बोली—'हो जायगा कुछ न कुछ इन्तज़ाम। तुम ऐसे अधीर क्यों हो रहे हो ?'

रामस्वरूप की आँखों में पानी आ गया,—'बोले क्या ?'

अँधेरे में शान्ता ने कातर होकर कहा—'इत्ती-सी बात के लिए मन में उदासी भर ली। पेटभर रोटी न खाई, बच्चों से हँसे-बोले तक नहीं। कैसा कमज़ोर दिल है तुम्हारा ?'

रामस्वरूप ने भरे गले से कहा—'मुझसे अब सहा नहीं जाता शान्ता ! जी करता है, रेल की पटरी पर जाकर सो रहूँ—'

छाती पर हंटर की चोट खाये शान्ता चपल गति से उठ बैठी। फिर अँधेरे में पति की खाट की ओर निहारती बोली काँपते कंठ से—'तुम्हें क्या हो गया है आज ? मेरा कलेजा टूटा जा रहा है, ऐसी बातें न कहो !

क्यों तुमने धीरज छोड़ दिया है, क्यों अपने हाथ से अपने ऊपर चोट मार रहे हो ?'

रामस्वरूप ने मानो पत्थर होकर कहा—'ऐसी ज़िन्दगी पर लानत है ! मेरे बच्चे दूध-मिठाई को तरसते हैं, मेरे बच्चे बढ़िया कपड़ों को तरसते हैं। मेरी पत्नी हमेशा फटी धोती पहनती है। मैं सारे दिन तन का पसीना बहाकर काम करता हूँ, पर मुझे रोटी-कपड़ा तक नहीं जुटता। कभी किसी का अनिष्ट नहीं करता, रिश्वत नहीं लेता, बदमाशी नहीं करता। तब फिर किस लिए मेरे ऊपर यह अत्याचार हो रहा है, मेरे मासूम बच्चों पर, मेरी सती-साध्वी स्त्री पर—सब पर क्यों ये मारें पड़ रही हैं ? किस अपराध के लिए ? किस पाप के लिए ?'—कहते-कहते रामस्वरूप का स्वर काँपने लगा।

शान्ता ने कहा—'भगवान पर भरोसा रक्खो, भगवान को न भूलो। हमेशा एक से दिन नहीं रहेंगे।'

रामस्वरूप को इन वचनों पर लेशमात्र विश्वास न हुआ। वह मानो उस अँधेरी रात में, सुख से सोये परमात्मा के चरण झकझोर कर चिल्ला रहा था—'किस लिए मेरे ऊपर अत्याचार हो रहा है, किस अपराध के लिये ? बोलो, जबाब दो !'

कि.शान्ता ने पास आकर अँधेरे में टटोल कर उसके पैर पकड़ लिये। मोह में डूबी वाणी से कहा—'लेट रहो, तुम्हारे पैर दबा दूँ।'

× × ×

शान्ता यों भी तड़के उठती थी, उस दिन वह और भी जल्दी उठ गई। चौका-बरतन किया, रसोई-घर सँभाला, फिर वह मकान की सफाई में जुट गई। छत में कहीं-कहीं जाला लगा दीख रहा था। शान्ता झाड़ू में डंडा बाँधने के लिए इस कमरे में आई तो देखा कि पति की खाट खाली पड़ी है। रामस्वरूप जाने कब उठ गया था।

शान्ता अकेली-अकेली ही जगी रही। फिर उसके दोनों बच्चे भी

चीज़ों के उठाने-रखने में सहायता करने लगे। तीनों जने हँसते-बोलते लगे रहे। फिर शान्ता ने बच्चों को हटाकर दोनों कमरे पानी से धो डाले। सारा घर चमचमाने लगा। बच्चे दिवाली की खुशी से उछल रहे थे।

शान्ता ने दोनों को नहलाया-धुलाया फिर खुद भी सिर धोकर नहा ली। बच्चों को भूख लगी थी, उन्हें बासी पराँवठे दे दिये और खुद धूप में आ खड़ी हुई, बाल सुखाने......।

घंटा भर और बीत गया। रामस्वरूप का पता न था। न कोई तरकारी है, न घी है। जाने कहाँ जाकर बैठ गये हैं ?

खाली बैठे-बैठे शान्ता का चित घबराने लगा तो बड़े लड़के सूर्या से बोली—'अपनी पेंसिल और पैमाना तो निकाल। चलो, लक्ष्मीजी बनायें।'

लड़के खूब खुश हुए। शान्ता ने एक दिन पहले ही दीवार पर एक जगह चूने से पोत दी थी।

वह पैमाना रखकर उसके चारों ओर लाइनें खींचने लगी तो सूर्या ने उत्साह से कहा—'अम्माँ, तू लाइन खींच, मैं पैमाना पकड़े हूँ।'

थोड़ी देर यों चला। छोटा खड़ा देख रहा था। अन्त में उसने चंचल होकर कहा—'अम्माँ, अब मैं पकड़ूँगा पैमाना।'

सूर्या ने कहा—'नहीं, तुझे नहीं मिलेगा।'

बिन्नू ने चिल्लाकर कहा—'अम्माँ, मैं पकड़ूँगा।'

झगड़ा बढ़ने लगा। पैमाना टेढ़ा हो गया, लाइन खिंचती चली गयी उधर को। शान्ता ने खीझकर कहा—'अरे कम्बख्तो, क्यों हाय-हाय मचाये हो ? नासपीटो !'

कि मालती ने पीछे से झिड़क कर कहा—'क्यों कोस रही हो मेरे भतीजों को ? आज त्योहार का दिन है।'

दोनों बच्चे शान्त खड़े थे। मालती ने बिन्नू को गोदी में उठा लिया

और उसके कोमल कपोलों को दो बार चूमकर बोली—'क्यों रे शैतान, क्यों तंग कर रहा था मेरी भाभी को ?'

बिन्नू ने बुआ की गोदी में अपना मुख छिपा लिया।

मालती ने स्नेह से पुलकित होकर बच्चे को छाती से चिपका लिया और ओठों में मुस्कान लिये भाभी से बोली—'क्या चित्रकारी कर रही हो, खाना-वाना नहीं बनाना है क्या ?'

शान्ता ने पेंसिल रोक कर कहा—'आपके श्रीमान् भाई साहब सुबह से ही गायब हैं। न घर में तरकारी है—' शान्ता आगे कहना ही चाहती थी—'न घी है।' कहते-कहते रुक गयी।

मालती ने सिर हिलाकर कहा—'लो, हम देते हैं तुम्हें तरकारी लाकर। तुम हमारे भाई साहब पर व्यंग्य नहीं कस पाओगी। जिस चीज की जरूरत हो, पेश कर सकते हैं। तुमने क्या समझ रक्खा है श्रीमती मालती देवी को ?'

बड़ा लड़का सूर्या ताली पीटकर हँस पड़ा। शान्ता ने कहा—'मैं श्रीमती मालती देवी को शीश झुकाती हूँ !'

मालती ने हाथ उठाकर कहा—'सौभाग्यवती भव !'

...'यह लो आलू, यह लो गोभी, यह लो बैगन, यह लो—'

शान्ता ने घबराकर कहा—'मालती, तुम पागल हो गई हो क्या ? सब तरकारी बटोर लाई, खुद क्या बनाओगी ?'

पर मालती ने न सुना। सामने लोटा सरका कर कहा—'और यह लो दूध। मेरे भतीजों के लिए खीर बनाना। देखो, तुम मत खाना। अच्छा, खा लेना तुम भी, एक तोला।'

शान्ता आँखें फाड़े स्तब्ध बैठी थी। मालती ने कहा—'अब बैठी क्यों हो भसको, चढ़ाओ न पतीली !'

शान्ता धीरे से बोली—'मालती, यह आज तुमने क्या किया ?'

तब मालती ने हँसते-हँसते कहा—'अरी पगली भाभी, मौसी के यहाँ

से ताँगा आया है। मुझे और सतीश को अभी फौरन बुलाया है। अब इन सब चीजों का क्या अचार डालूँगी?' कि बाहर से सतीश ने पुकारा—'जीजी! लो घी ले आया।'

मालती ने धीरे से पूछा—'घी तो है न भाभी?'

तब लज्जा, और संकोच ग्लानि में डूब कर भाभी ने धीरे से कहा—'नहीं।'

मालती ने बाहर को मुँह करके कहा—'अरे, यहीं ले आ रे घी। इधर ले आ।'

...मालती ने उठते-उठते कहा—'अच्छा भाभी, तीन दिन के लिए नमस्ते! चल दिये अब।'

शान्ता की आँखों में जाने किधर से आँसू छलछला आये। उन्हीं छलछलाई आँखों से मालती का आनन्दोज्ज्वल मुख निहारकर करुण स्वर में बोली—'मालती, इस शहर में—इस मुहल्ले में तुम न होतीं सखी, तो मैं तड़प-तड़पकर मर गयी होती।'

मालती ने चौंक कर कहा—'हाय भाभी, कैसी बातें कर रही हो।' कहते-कहते वह भी सजल नयन हो गयी और काँपते कण्ठ से बोली—'तुम न होती दुनियाँ में तो भाभी, मैं भी जिन्दा न रह पाती। तुम्हीं मेरी आश्रय हो, तुम्हीं पथ-प्रदर्शक हो। मैंने तुम्हीं से जिन्दा रहना सीखा है।'

× × ×

ठीक बारह बजे दबे पैरों रामस्वरूप घर में घुसा। वह सुबह सात बजे से अभी तक बराबर सारे परिचित लोगों से पाँच रुपए उधार माँगता फिरा था और सबने विवशता प्रकट करते हुए क्षमा माँग ली थी। दिवाली के दिन भला कोई हिन्दू गृहस्थ क्यों उधार देने लगा? एक पुराना साथी रँडुआ था, बिलकुल अकेला रहता था। रामस्वरूप ने उसका दरवाजा जा खटखटाया तो हँसकर बोला—'दोस्त, तीन रुपये हैं मेरे पास, दो तो मुझे चाहिये, एक बचता है। यह एक रुपया तुम ले जाओ।'

रामस्वरूप ने शान्ति की साँस ली। एक रुपया ही सही। बच्चों का मुँह तो मीठा कर देगा। हाय, उसके कोमल, नन्हें बच्चे, आज दिवाली के दिन भी तरसते रहेंगे क्या ?...

...रामस्वरूप श्रान्त-क्लांत देह-मन लिये कमरे में घुसा तो कमरा सूना पड़ा था। तब वह इधर आकर चुपके से झाँकने लगा। शान्ता खाना सेंक रही थी और दोनों बालक सामने बैठे खीर सड़ोप रहे थे।

बिन्नू बाप को देखकर उछलकर बोला—'बाबूजी, हम खीर खा रहे हैं !'

रामस्वरूप भीतर आ खड़ा हुआ। उसकी आँखें शान्ता के मुख पर जा गिरीं। गोरा-गोरा मुख आँच के आगे बैठे रहने से बिलकुल सिंदूरिया हो उठा था। माथे पर छोटी-छोटी पसीने की बूँदें छाई थीं।

एक परितृप्ति से, एक मीठी वेदना से उसका हृदय भर-भर उठा। शान्ता ने बिना पति की ओर देखे, पतले लाल ओठों से कहा—'नहा लो जल्दी से। तुम्हारे लिए पूरियाँ उतार रही हूँ।'

रामस्वरूप ने तीन शाक और खीर की कढ़ाही देखकर हँसकर पूछा—'कहाँ से आया यह सब ? कौन लाया ?'

सूर्या बोल उठा—'बुआजी दे गईं बाबू जी।'

शांता ने फिर स्पष्ट करके सब सुनाया। रामस्वरूप कमीज के बटन खोलता-खोलता इस कमरे में आया तो रातवाली शान्ता की बात याद आ गई अचानक कि—भगवान पर भरोसा रक्खो। परन्तु फौरन ही उसका मन जैसे विद्रोही हो उठा और नास्तिक होकर बोला—'सिर्फ थोड़ी-सी तरकारी और सेर भर दूध के लिए परमात्मा का कृतज्ञ होऊँ ? ऐसी-तैसी परमात्मा की...।'

भोजन करके रामस्वरूप जो सोया तो फिर आँख न उघारी। शान्ता और दोनों बच्चे चुपके-चुपके लक्ष्मी जी की मूर्ति बनाते रहे दीवार पर और हौले-हौले बोलते रहे। यहाँ तक कि सूरज डूबने लगा पश्छिम में

और कमरे में धुँधयाली आने लगी तो शान्ता ने एक ऊँची साँस लेकर पेंसिल रख दी और लड़के से कहा कि—'बस, अब बटोर लो अपने रंग।' फिर उसने गाढ़ निद्रा में सोये पति को आ जगाया और बोली—'उठ बैठो अब। बाजार चले जाओ। यह लो, यह पाँच रुपये का नोट है।'

रामस्वरूप उछलकर बैठ गया और अचरज से बोला—'कहाँ मिला यह ?'

शान्ता ने हौले से कहा—'मिलता कहाँ से! मेरे पास रखा था। पारसाल मामाजी दे गये थे बच्चों को।'

रामस्वरूप ने रुँधे गले से कहा—'शान्ता—'

कि बाहर से पड़ोसवाली अहीरिन पुकार उठी—'बहूजी, यह लो गोबर, तुम्हें पूजा के लिए, लीपने को चाहिये न ?'

...दोनों लड़कों ने कूदकर कहा—'बाबूजी, हम भी चलेंगे तुम्हारे साथ बाजार को।'

शान्ता ने कहा—'नहीं, अभी नहीं। थोड़ी देर बाद। रोशनी देखने जाना। खिलौने लाना, मीठा लाना। अभी इन्हें जाने दो, जल्दी से सब सामान ले आवें।'

रामस्वरूप ने खिले चेहरे से पूछा—'क्या-क्या लाना है ?'

शान्ता ने बतलाया कि, तेल चाहिये, दिये जलाने को। दिये चाहिये पचास छोटे। रुई चाहिये। पूजा का सामान चाहिये। खीलें लाना, बताशे लाना और एक रुपया लक्ष्मी जी के चरणों पर चिपकाया जायगा, पूजा होगी।

रामस्वरूप लपकता हुआ बाहर गया। और दस मिनिट बाद ही लौट आया। आँगन में पत्नी को पुकारकर बोला—'लो दिये तो ले आया, पचपन हैं। रुई भी ले आया हूँ। यहीं बिक रही थी। नोट भी भुन गया। दो खिलौने ले आया हूँ बिन्नू के लिए। ले रे!'

बच्चा खिलौना पाकर फूला न समाया। रामस्वरूप तेजी से बाहर निकला कि खिड़की से एक पुकार आई—'सुनो जरा!'

'क्यों? क्या है'—रामस्वरूप इस पार से पूछने लगा।

खिड़की के उस पार खड़ी शान्ता ने सिर झुकाकर हौले से कहा—'जल्दी आना।'

'अभी आता हूँ, दस मिनिट में।'—वह चलने को हुआ तो शान्ता हौले से बोली सिर नत किये—'खेलना मत।'

रामस्वरूप को जैसे किसी ने जोर से धक्का दे दिया। चौंककर बोला—'पागल हुई हो!' और मुँह फेरकर चल दिया।

पिछली साल दिवाली के दिन रामस्वरूप जुआ खेला था। जुए में पूरे पचास रुपये हार गया था।...

······रामस्वरूप पूरे फोर्स से बढ़ता चला जा रहा था। गली समाप्त हो गई और बाजार का मोड़ आ गया। उसी कोने पर पच्चीस-तीस आदमियों की भीड़ जमा थी और कोई ऊँची, आकर्षक आवाज से चिल्ला रहा था—'एक लगाओ, चार पाओ! तकदीर आजमाओ। आना, दो आना, रुपया-धेली लगाओ, चौगुना पाओ। तकदीर आजमाओ!'

रामस्वरूप ने उधर ध्यान न दिया। शान्ता की बतलाई चीजों को मन ही मन दुहराता वह कदम आगे बढ़ाने लगा कि खट से किसी ने पीछे से उसकी बाँह पकड़ ली। रामस्वरूप ठिठक कर खड़ा हो गया और उसने आश्चर्य से पीछे देखा। यह हीरालाल था। हँस कर पूछने लगा—'कहाँ भागे जा रहे हो हजरत?'

रामस्वरूप ने कहा—'दिवाली का सामान लेने आया हूँ।'

हीरालाल उसकी बाँह खींचते हुए कहा—'इधर आओ, देखें, क्या खेल हो रहा है।'

रामस्वरूप विनय करके बोला—'मुझे खेल देखने की फुरसत नहीं है भाई, मुझे जाने दो।'

हीरालाल ने कहा—'ओहो, मैं तुम्हें बाँधकर रख रहा हूँ क्या ? सिर्फ चन्द मिनिट, मैं भी चल रहा हूँ बाजार। आओ जरा देख लें!'

दोनों साथी एक कोने में खड़े होकर वह खेल देखने लगे। एक कपड़े पर हाथी-घोड़ा-ऊँट की तस्वीरें बनी थीं और लोग उन पर आना-दो आना रख रहे थे और खेल वाले से कहते जा रहे थे—'यह इकन्नी मेरी है।' और खेल वाला चिल्ला रहा था—'और लगाओ भाइयो, और लगाओ, एक लगाओ—चार पाओ! धोखा नहीं है, बेईमानी नहीं है। तकदीर का खेल है। और कोई ? और कोई ? एक-दो-तीन।'

खेल वाले ने लिफ़ाफ़ा खोल दिया—तीनों ऊँट के कार्ड निकले। ऊँट पर जिन लोगों ने इकन्नी-दुअन्नी लगाई थी, उन्हें चौगुना मिला। बाकी तसवीरों पर लगे पैसे खेल वाले ने एक हाथ में समेट लिये और चिल्लाने लगा—'लगाओ, लगाओ! हाथी पर लगाओ, ऊँट पर लगाओ, हिरन पर लगाओ। तकदीर का खेल।'

हीरालाल ने हाथ आगे बढ़ा कर हाथी पर एक इकन्नी फेंक दी और खेल वाले से बोला—'यह इन बाबूजी की है।'

खेल वाले ने जल्दी से रामस्वरूप की ओर देखा और भीड़ से कहने लगा—'लगाओ जल्दी।'

······क़ार्ड खुले। हाथी थे तीनों। खेल वाले ने चार आने रामस्वरूप की ओर बढ़ा दिये। दोनों साथी एक दूसरे की ओर देखकर हँस पड़े जोर से।·· ···

हीरालाल ने रामस्वरूप के कान में धीरे से कहा—'अबकी ऊँट पर दुअन्नी लगाओ।'

ऊँट निकला। आठ आने और आ गये।

हीरालाल ने धीरे से कहा—'हिरन पर चार आने।' हिरन ही निकला। एक रुपया मिला।

हीरालाल ने धीरे से कहा—'फिर हिरन—अठन्नी।' फिर हिरन निकला। दो रुपये देने पड़े खेल वाले को। वह पैनी दृष्टि से रामस्वरूप की ओर ताकने लगा।······आठ रुपये इन लोगों ने जीत लिये थे।

रामस्वरूप ने हीरालाल की ओर बिना देखे ऊँट पर एक रुपया फेंक दिया। हिरन निकला। खेल वाले ने रुपया समेट लिया।

हीरालाल ने रामस्वरूप को बाँह पकड़ कर खींचा और दोनों साथी भीड़ के बाहर आ खड़े हुए। हीरालाल ने कहा—'बस यार, यही चार मिनिट तुम्हारी तकदीर बुलन्द थी। अब ठस्सा खा गई। चलो, पान खा लें।'

रामस्वरूप का दिल बाग-बाग हो रहा था। उसने तमोली के आगे एक चवन्नी फेंक दी और शान से बोला—'एक-एक आने वाले चार बीड़े लगाओ, बढ़िया—फ़र्स्ट क्लास!'

पान खाकर सुरती जमाई दोनों ने। तब फिर रामस्वरूप बाकी बचे जीत के रुपये-पैसे हीरालाल को देने लगा। हीरालाल ने लापरवाही से कहा—'अरे जा भी, तू मुझे ऐसा तुच्छ समझता है यार! इन पैसों का मीठा ले जाइयो बच्चों को। खुश होंगे खाकर। अच्छा भाई, नमस्ते!'

हीरालाल हाथ जोड़े ही था कि किसी ने पीछे से आकर उसकी कौरिया भर ली। रामस्वरूप की आँखें चमक उठीं। प्रसन्नता से बोला—'ओख्खोह, वीरेश्वर बाबू!'

वीरेश्वर बाबू ने हीरालाल को छोड़ दिया और ठहाका मार कर हँस पड़े और हँसते-हँसते बोले—'कैसा पकड़ा दोनों को!'

हीरालाल स्तम्भित खड़ा था। वीरेश्वर ने आँखें चौड़ी करके कहा—'अरे बछिया के ताऊ, न नमस्ते, न दुआ-सलाम। खड़ा-खड़ा मुँह ताक रहा है!'

हीरालाल ने हँस कर कहा—'आदाब अर्ज करता हूँ हुजूर को ! कब आये कलकत्ते से ?'

'बस आज ही ।'—उन्होंने जल्दी से तमोली के आगे एक रुपया फेंककर कहा—'पान लगाओ जी !'

× × ×

अहीरिन जो गोबर दे गयी थी, शान्ता ने उससे लक्ष्मी महारानी के नीचे की जमीन लीप दी । उसे ममेरे भाई के जनेऊ में एक बड़ी-सी कलई की थाली मिली थी । बक्स में से उस थाली को निकाल कर धो लाई । फिर लालटेन का शीशा साफ करके उसे जलाने लगी ।

दिये पानी में भीगे थे । लड़के बोले—'अब दिये निकाल लें अम्माँ ?'

शान्ता ने लालटेन की बत्ती ऊँची करके कहा—'निकाल लो ।'

'कहाँ रक्खें ?'

'यहीं रखते जाओ कतार से लक्ष्मीजी के सामने ।'

बड़े ने तसले में हाथ डाल कर दो-चार दिये निकाले तो फिर छोटे से न रहा गया । वह भी जल्दी-जल्दी दिये निकाल कर लक्ष्मीजी के नीचे रखने लगा ।

सूर्या ने दुखी होकर कहा—'अम्माँ, देख यह बिन्नू लाइन में नहीं रख रहा है !'

शान्ता रुई से बत्तियाँ बना रही थी । हँस कर बोली—'तू सम्हाल ले लाइन ।'

······दिये सब फैला दिये गये । सूर्या ने उन्हें एक-एक करके गिना और बोला—'इक्यावन हैं अम्माँ, चार टूटे हुए हैं । फेंक दें इन्हें ?'

'फेंक दो ।'

दोनों भाई सड़क पर दिये फेंकने लगे तो देखा कि पड़ोसी अहीर का लड़का बढ़िया कपड़े पहने चला आ रहा है ।

ये भी दौड़े आये भीतर और उत्कण्ठा से बोले—'अम्माँ, हमें कपड़े

पहना दो जल्दी से। तैयार हो जायँ रोशनी देखने के लिए। बाबूजी तो अभी तक नहीं आये अम्माँ!'

शान्ता ने कहा—'आते ही होंगे। लो, कपड़े पहन लो तुम।' उसने बच्चों को धुले हुए पुराने कपड़े पहिना दिये। बिन्नू के नेकर का सामने वाला बटन टूटा हुआ था। शान्ता जल्दी-जल्दी उसे टाँकने लगी कि सूर्या ने सामने आकर कहा—'मेरे बाल काढ़ दे।'

शान्ता कंघा लेकर उसके बाल काढ़ने लगी तो चौंक कर पूछा—'भींगा क्यों है तेरा सिर?'

'मैं अभी पानी से भिगो लाया हूँ। तेल तो है नहीं, कढ़ेंगे कैसे?'

'हाय शौकीन! रात में सिर भिगो लिया हत्यारे। सरदी जो हो जायगी।'

शान्ता ने जल्दी-जल्दी अपने अंचल से उसका सिर पोंछा। छोटे बिन्नू का अभी थोड़े दिन पहले मुण्डन हुआ था? उसके सिर पर नाम मात्र को ही बाल थे। वह बोला—'अम्माँ, हमने तो नहीं भिगोया सिर।'

शान्ता ने उसे गोदी में खींच लिया और दुलार से बोली—'तू तो मेरा राजा बेटा है!!'

······घण्टा भर से ऊपर बीता। पति अभी तक नहीं लौटे। दोनो बच्चे सज कर तैयार बैठे थे। लक्ष्मीजी के आगे खाली थाली चमचमा रही थी और दियों की पाँच कतारें सजी थीं, जिनमें नयी रुई की सफेद, बिना तेल की बत्तियाँ चमक रही थीं।'

'आये नहीं बाबूजी!'

'अम्माँ, बाबूजी कब आयँगे?'

शान्ता ने कहा—'अच्छा, तुम लोग पान वाले की दूकान तक देख आओ। वहाँ खड़े हों चाहे, पान खा रहे हों, बातों में लग गये हों किसी की। जाओ, चले जाओ। सूर्या, तू बिन्नू का हाथ पकड़े रहियो बेटा, भीड़ होगी।'

सूर्या ने खुशी-खुशी वहीं घर में ही छोटे भाई का हाथ पकड़ लिया और चल दिया बाप को खोजने ।

शान्ता ने खिड़की में से पुकार कर कहा—'हाथ मत छोड़ियो इसका ।'

सूर्या ने बिन्नू का हाथ और कस कर पकड़ लिया ······।

······शान्ता बिलकुल अकेली रह गई । सहसा उसकी नजर लक्ष्मी-जी की प्रतिमा पर गई, जो उसने दीवाल पर रंगीन पेंसिलों के सहारे अङ्कित की थी ।

ओंठों पर रंग न था । शान्ता ने लाल पेंसिल लेकर सम्हाल कर ओठों को रंजित कर दिया । प्रतिमा मानो मुस्कुरा उठी । शान्ता अपलक होकर 'देवी' की वह मुसकान देखने लगी और जाने कैसे एक भावावेश से उसका हृदय भर-भर आया । वह उस प्रतिमा के आगे आ बैठी और देवी के चरणों में शीश झुका कर मन ही मन कहने लगी—'इस घर से क्यों रूठ गयी हो माँ ?' उसका चित्त मानो बिलकुल भींग गया हो । कातर होकर मन ही मन बोली—'हम अभागों की भी सुधि लो माँ······।' वह चेतना खोये देवी के आगे बैठी रही । सहसा दहलीज में बिन्नू की पुकार सुन कर वह लालटेन लेकर दौड़ी । बालक आलोक में से आये थे, अँधेरे में डरे खड़े थे । शान्ता उन्हें भीतर ले आयी तो सूर्या बोला—'बाबूजी कहीं नहीं मिले अम्माँ !'

'बाजार में भी नहीं थे । कहीं नहीं थे ।' बिन्नू ने कहा ।

सूर्या बोला—'इतनी सुन्दर रोशनी हो रही है अम्माँ ! और वह सेठजी हैं नहीं, कृष्णा के पिताजी, उनकी कोठी में इतनी बढ़िया रोशनी हो रही है !' आँखें चमका कर बोला—'हम भीतर जाकर देख आये । कृष्णा ले गया हमें । कृष्णा ने नया कोट बनवाया है अम्माँ, मखमल का है, चिकना-चिकना ।'

बिन्नू रिरिया कर बोला—'अम्माँ हमें भी मखमल का कोट बनवा दो !'

सूर्या उससे नाराज होकर बोला—'हट। हम तो गरीब हैं। बाबूजी कहाँ से बनायेंगे तुम्हें कोट, रुपया ही नहीं है।'

शान्ता के कलेजे पर जैसे किसी ने कस कर घूँसा मार दिया।

बिन्नू घड़ी भर चुप रहा। फिर उसने कहा—'भूख लगी है हमें।'

शान्ता ने उन्हें दिन की पूरियाँ ला कर दे दीं। दो पूरियाँ खाकर सूर्या ने मना कर दिया। बिन्नू ने कहा—'एक कचौड़ी और लूँगा।'

तब सूर्या खुश-खुश बोला—'हम तो मीठा खायँगे, इसलिए पेट नहीं भरा हमने।'

बिन्नू माँ का मुँह देखने लगा। शान्ता ने हँस कर कहा—'तू भी मत खा कचौड़ी। मीठा खइयो......।'

......आधा घण्टा और बीत गया। लड़के खाट पर चढ़ कर आपस में ही खेल रहे थे। शान्ता थोड़ी देर गुमसुम बैठी रही, फिर वह रंग लेकर मूर्ति के चारों ओर की बेल सजाने लगी।

सहसा बिन्नू ने गुदगुदी करके सूर्या को पछाड़ दिया खाट पर और उसके पेट पर चढ़ कर बोला—'अब बोल!'

सूर्या हँसे जा रहा था, हँसे जा रहा था। अचानक उसकी नजर खिड़की के उस पार, दूर किसी अट्टालिका पर पड़ी तो जोर से बोला—'अरे वह देख ऊपर!'

'जल गई दिवाली!' लड़के प्रफुल्ल होकर बोले और गली में हरी-हरी सी रोशनी और 'छुर-छुर' की आवाज सुन कर बाहर को भागे।

गली के नुक्कड़ पर मुहल्ले के कुछ लड़के इकट्ठे होकर रंग-बिरंगी आतिशबाजी छोड़ रहे थे। वहीं, पास ही चौतरे पर बैठा एक आदमी सब चीजें बेच रहा था और लड़के पैसे दे-देकर उससे पटाखे और छुरछुरियाँ और रंगीन बत्तियाँ और फुलझड़ी खरीद रहे थे।

ये दोनों एक कोने में खड़े देखते रहे, फिर भागे आये माँ के पास और बोले—'अम्माँ, पैसे दो, हम भी आतिशबाजी छोड़ेंगे!'

शान्ता ने बेल पूरी कर ली थी। उसी को निहारती बोली—'अभी आ रहे होंगे तुम्हारे बाबूजी, उनसे लेना पैसे।'

'बाबूजी तो अभी तक नहीं आये। सब जगह जल भी गई दिवाली। सबके घरों में दिये जल रहे हैं। देख ले तू!'

शान्ता नहीं बोली। वह बेल को देखे जा रही थी।

सूर्या बोला—'लाओ अम्माँ, पैसे दो, फुलझड़ी ले आयें।'

'मेरे पास कहाँ हैं पैसे?'

'बिन्नू उसके सामने जा बैठा और घिघिया कर बोला—'बस, एक पैसा दे दे अम्माँ, मैं छुर्छुरिया ले आऊँ। दे दे अम्माँ एक पैसा!'

हाय, उसके पास एक भी पैसा नहीं है। शान्ता ने बच्चे को गोदी में खींच लिया और चुप रही······।

× × ×

पान खा कर तीनो आदमी आगे बढ़ने लगे तो चार कदम चल कर रामस्वरूप ठिठक रहा और नम्र स्वर में वीरेश्वर बाबू से बोला—'मुझे अब माफी दीजिये।'

वीरेश्वर बाबू ने आगे बढ़ कर उसका हाथ पकड़ लिया और पास खींचकर बोले—'वाह रे इन्सान, मैं साल भर बाद यहाँ लौटा हूँ और तुम दस मिनिट भी मेरे साथ रहना पाप समझते हो! बड़े अच्छे दोस्त हो तुम तो, खून सफेद हो गया क्या? दोस्ती के यही माने हैं?'

रामस्वरूप ने लज्जित होकर कहा—'घर से सामान लेने आया था। बच्चे इन्तजार में बैठे होंगे।'

वीरेश्वर बाबू ने कहा—'इतना मैं भी समझता हूँ मित्र, मुझे भी अपने घर पर दिवाली मनानी है। जरा रायसाहब से मिलना था, सिर्फ दो मिनिट। दो मिनिट नहीं दे सकते तुम मुझे?'······

······हीरालाल आगे की सीढ़ी पर था। वीरेश्वर बाबू ने पीछे मुड़ कर देखा तो रामस्वरूप सड़क पर ही खड़ा था। वे भी उतर आये। राम-

स्वरूप ने हाथ जोड़ कर कहा—'अब मुझे छोड़ दो। शायद ऊपर जुआ हो रहा है।' 'जुआ!'—वीरेश्वर बाबू ने आँखें चौड़ी करके कहा—'तुम भाँग तो नहीं पी आये हो? यह जुआ का वक्त है? चलो-चलो!'

पारसाल इसी दिन, इसी जीने से वह ऊपर चढ़ कर गया था और पूरे पचास रुपये जुये में हार कर इसी जीने से उतरा था। सीढ़ियाँ चढ़ते हुए रामस्वरूप के पैर काँपने लगे।

कोठी में जुआ सचमुच नहीं हो रहा था। दिवाली के उपलक्ष में लगाये नये लट्टू चारों ओर जल रहे थे और सम्पूर्ण कमरे में, इस ओर से उस ओर तक शुभ्र चादर बिछी हुई थी। रायसाहब शुभ्र मलमल पहिने बैठे थे और चाँदी की शुभ्र थाली में शुभ्र वर्कों में लपेटे पान के बीड़े सामने शोभित थे। एक ऐश्वर्यभरी शान्ति चारों ओर विराजमान थी। और नौकर-चाकर मूक होकर आ-जा रहे थे।

रायसाहब ने मुस्कुराहट के साथ इन लोगों का स्वागत किया और अपने हाथ से पान की थाली आगे को सरका दी।

वीरेश्वर बाबू से मन्द स्वरों में कुछ जरूरी बातें हुईं और फिर इधर को मुखातिब हो गये। रामस्वरूप से वे 'पण्डित' कह कर बोलते थे। बोले—'मिठाई मँगाऊँ पण्डित, तुम्हारे लिए?'

रामस्वरूप ने तत्काल हाथ जोड़े और यह देख कर कि जरूरी बातचीत समाप्त हो गई है, उसने हाथ जोड़े ही कहा—'अब आज्ञा दीजिए।'

रायसाहब के माथे पर 'बल' पड़ गये और झूठी नाराजगी से बोले—'तुम बड़े बेमुरव्वत हो गये हो पण्डित, यानी कि हमारे यहाँ दस मिनिट बैठना भी खल रहा है तुम्हें?'

रामस्वरूप ने सिर झुका लिया।

वीरेश्वर बाबू ने 'शह' दी, बोले—'रायसाहब, यह हजरत आपके यहाँ आते थोड़े ही थे। मैंने हजार मिन्नतें कीं, हजार समझाया तब तशरीफ लाये हैं!'

रायसाहब ने प्रेमभाव से कहा—'ऍं पण्डित, ऐसी बात है ! अच्छा अब जाओ तो उठ कर यहाँ से ! बेटा, रस्सी से बँधवा कर डलवा दूँगा ! उठो तुम जरा !'

तीनों जने खिलखिलाकर हँस पड़े। रायसाहब को भी हँसी आ गई। नौकर को आवाज देकर बोले—'बबुआ ताश ले आ।'

रामस्वरूप का कलेजा काँप गया। वीरेश्वर बाबू ने विनती करके कहा—'इस समय हम लोग माफी चाहते हैं। फिर आयेंगे, जिस समय आपकी आज्ञा हो। अभी तो हम लोगों के घर पर······।'

रायसाहब ने वीरेश्वर बाबू को हाथ से रोक कर कहा—'जनाब, मैं इतना गधा नहीं हूँ। यह तो सिर्फ 'शगुन' के लिए मँगा रहा हूँ ताश। सिर्फ एक बाजी। शगुन कर लो और चले जाओ तीनों।'

वीरेश्वर बाबू मुस्कुरा कर रह गये ······।

× × ×

'हमारी दो रुपये की चाल। तुम बोलो पण्डित !'

'चार रुपये की चाल।'—रामस्वरूप ने कहा।

'आठ की। शो करो !'—वीरेश्वर बाबू ने कहा।

रामस्वरूप ने पत्ते दिखा दिये,—आठ-नौ-दस।

वीरेश्वर बाबू ने अपने पत्ते फेंक दिये और आँखें चौड़ी करे सिर हिला कर बोले—'अरे वाह रे खिलाड़ी !'

रामस्वरूप ने सब रुपये बटोर लिये।

हीरालाल ने प्रसन्न हो कर कहा—'रायसाहब, यह अभी तसवीरों पर आठ रुपये जीत कर आये हैं। आज इनकी किस्मत तेजी पर है।'

रायसाहब ने खुश हो कर रामस्वरूप की पीठ ठोंक कर कहा—'शाबाश पण्डित, शाबाश !'

रामस्वरूप पत्ते फेंट रहा था। उसने हँस कर पत्ते बाँटने शुरू कर दिये।

किसी ने कुछ प्रतिवाद न किया। फिर एक-एक रुपया 'वोट' में पड़ गया।

वीरेश्वर बाबू उसके दाहिने थे। एक रुपिया 'ब्लाइन्ड' डाल कर हीरालाल से पूछने लगे—'क्या हाल है ?'

हीरालाल ने अपने पत्ते फेंक दिये और कहा—'यह देखिये न !'

राय साहब धीरे-धीरे सिर हिला रहे थे। तीनों आदमी उत्सुकता से उनकी ओर निहारने लगे। रायसाहब ने पत्तों पर नजर जमाये-जमाये कहा—'चाल !' और आठ रुपये रख दिये सामने।

रामस्वरूप ने अपने पत्ते उठाये। वह हँसा नहीं। जीते हुए रुपयों में में से सोलह रुपये आगे बढ़ा कर कहा—'मेरा भी !'

रायसाहब ने पीठ को जरा सीधा करके कहा—'हमारी पचास रुपये की चाल।'

'मेरी भी,'—रामस्वरूप ने धीरे से कहा।

''शो' करो पण्डित !'

रामस्वरूप ने पत्ते खोल दिये—तीन छक्के !

'अरे वाह रे पण्डित, अरे वाह रे पण्डित !'—रायसाहब झूम कर बोले—'आज तुम्हारा सितारा सचमुच बुलन्द है !'

रामस्वरूप ने सब रुपये समेट लिये।

ताश फिर बँटने लगे। किसी ने भी विरोध न किया, किसी ने भी न कहा कि, हमें घर जाना है।

× × ×

ठीक आधी रात को, जब दिवाली के दिये बुझ गये थे और त्योहार की चहल-पहल चुप हो गई थी और सब खिलाड़ी बच्चे अपनी माताओं

के अंक में सो गये थे और काला सन्नाटा जगह-जगह पुंजीभूत था—कोठी में खेल चल रहा था और चारों आदमी अर्ध-चेतन-से थे……।

पचहत्तर रुपये मासिक पाने वाला, जूनियर ग्रेड का क्लर्क रामस्वरूप जैसे इस धरातल पर न था। कहीं बहुत दूर—बहुत ऊपर आकाश में वह कोठी का शुभ्र फर्श था बादलों के बीच और उसी लोक की अनिन्द्य पवन बह रही थी रामस्वरूप के चारों ओर और उसी लोक का प्रकाश रामस्वरूप के चारों ओर छाया था। वह थैला, जिसमें उसे खीलें और बताशे ले जाने थे, उस थैले को किसी करुणा से द्रवित हुए भक्तिभाव से प्रसन्न हुए देवता ने नोटों से भर दिया था। पाँच के, दस के, सौ के नोट उस थैले में बढ़ रहे थे और वे देवता रामस्वरूप से सटे बैठे मन्द-मन्द हँस रहे थे और कह रहे थे कि, 'तुम्हीं एक भाग्यशाली हो, भय न करना, आज सम्पत्ति तुम्हारे चरणों पर लोट जायगी, मैं तुम्हें नोटों से ढँक दूँगा, मैं तुम्हारे पास बैठा हूँ बन्धु, रुको मत, रुको मत !'

……रामस्वरूप का मुख-मण्डल दमदमा रहा था, उसकी दृष्टि विचित्र हो गई थी, उसकी आवाज भी बदल गई थी।

रायसाहब से उसकी 'होड़' लगी थी। वीरेश्वर बाबू और हीरालाल साँस रोके देख रहे थे।

रायसाहब का चेहरा लाल था। और पेशानी पर 'धारियाँ' पड़ रही थीं और उनकी आवाज जैसे और अधिक गम्भीर हो गई थी, और अधिक दृढ़ ताश पर बोली चढ़ रही थी।

……अन्त में, अपने पत्तों को नीचे कर रायसाहब ने शान्त स्वर में कहा—'एक हजार की चाल।'

रामस्वरूप ने अपने पत्ते अभी तक न उठाये थे। वह बराबर मानो उन्हीं देवता की आवाज सुन रहा था—'रुको मत बन्धु, डरो मत !'

रामस्वरूप ने फिर कह दिया—'ओवर ब्लाइन्ड।'

दोनों अवशिष्ट साथी सन्नाटे में आ गये।

रायसाहब के चेहरे का रङ्ग बदलने लगा। पेशानी पर धारियाँ और गहरी हो गई, तो भी शान्त स्वर में बोले—'दो हजार।'

उन देवता ने रामस्वरूप के कान में हौले से कहा—'रुको मत!'

रामस्वरूप ने मानो नयन मूँदे कहा—'ओवर ब्लाइन्ड।'

रायसाहब का चेहरा सुर्ख हो गया, आँखों में जैसे प्रतिहिंसा जाग उठी और एक भयंकर मेघ-गर्जना हुई—'दस हजार!'

दोनों साथी मानो पटक खाकर बड़े ऊँचे से गिर पड़े। रायसाहब ने तीव्र स्वर में कहा—'शो करो।'

रामस्वरूप ने अपने पत्ते पलट दिये—तीन इक्के!

रायसाहब के माथे पर पसीना छलछला आया। उन्होंने अपने तीनों बादशाह फर्श पर पटक दिये और रामस्वरूप की ओर देख कर शान्त किन्तु थके स्वर में पूछा—'रुपया निकलवाऊँ?'

'लाइये।'—रामस्वरूप हँस कर बोला।

नौकर कोने में बैठा ऊँघ रहा था। राय साहब ने उसे पुकार कर कहा—'जा, बहूजी से चाभी ले आ तिजोरी की।'

वीरेश्वर बाबू और हीरालाल सिर्फ स्वप्न देख रहे थे—उनके दिल यह बात हरगिज नहीं मान रहे थे कि जो कुछ उनकी आँखों के सामने हो रहा है, सत्य है।

······उन देवता ने प्रसन्न मुद्रा से रामस्वरूप का हाथ पकड़ कर कहा—'प्रिय बन्धु, आज तुम्हारे सांसारिक कष्टों का अन्त हो गया!'

तब मानों रामस्वरूप ने सीना उभार कर कहा—'मुझे अभी सन्तोष नहीं है। मैं आज इस रायसाहब को मटियामेट कर दूँगा। मेरे ऊपर दुनिया ने इतने अत्याचार किये हैं, मैं इस दुनिया पर अत्याचार करूँगा, मैं पैरों से कुचल दूँगा सब को।'

तब उन देव लोकवासी प्राणी का मुखकमल जैसे यह सुन कर कुम्हलाने लगा। उन्होंने धीरे से रामस्वरूप का हाथ छोड़ दिया। पर रामस्वरूप ने

ध्यान न दिया, वह जैसे दाँत पीस कर कहता ही रहा—'पैरों से कुचल दूँगा सब को······ !'

उसी दृश्य की पुनरावृत्ति हो गई। रायसाहब ने दृढ़ कण्ठ से कहा—'एक हजार की चाल।'

रामस्वरूप के कानों में कहीं से कोई प्रतिध्वनि नहीं आई। पर उसे होश न था। किसी ने साहस नहीं बँधाया, पर उसे परवाह न थी। उसने अन्धे होकर कहा—'ओवर ब्लाइन्ड।'

रायसाहब ने शान्त भाव से कहा—'दो हजार की चाल।'

'ओवर ब्लाइन्ड।'

''शो' करो।'

रामस्वरूप ने पत्ते पलट दिये—दो दुक्की, एक नहला।

रायसाहब ने शान्त भाव से अपने पत्ते दिखला दिये—तीन गुलाम।

······रामस्वरूप की गरदन में कोई नस टूट गई जैसे। उसने घबरा कर इधर-उधर देखा—कहाँ हैं वे देवपुरुष ? कहाँ गये दया के सागर ?···

रामस्वरूप ने उस टूटी हुई नस पर एक झटका दिया और जमीन में आँखें गड़ा कर बोला—'मेरे पास अभी असंख्य धनराशि है। कोई परवाह नहीं !'

······पत्ते फिर बँट गये।

फिर उसकी रायसाहब से 'होड़' लगी। फिर उसकी गरदन की दूसरी नस टूट गई। फिर उसने चारों ओर देखा। फिर उसने नस पर झटका दिया और बोला—'कोई परवाह नहीं !'

···और बार-बार फिर गरदन की नसें टूटती गयीं।···

···देवताओं के जागने का समय हो गया और देवता जाग रहे थे। दूर, मुहल्ले के उस छोर पर 'घनन्-घनन्' करके मन्दिर में घण्टा बज उठा। पास वाले छोटे से अनार के वृक्ष पर चार पक्षी शोर मचा रहे थे और कोठी के जीने के नीचे खड़ा रामस्वरूप आँखें चीर कर अपने घर की

दिशा खोज रहा था—पूरब किधर है ? कौन राह उसके घर को जाती है ?

कोठी के कमरे से रायसाहब के ठहाके की प्रतिध्वनि आ रही थी।

रामस्वरूप ने अपना थैला, जिसमें एक पाई भी बाकी न थी, जिसमें खीले-बताशे न थे, कस कर मुट्ठी में दबा लिया और बेजान पैरों से दाँत पीस कर बोला—'चलो पापियो !'

···कैसे वह अपने दरवाजे तक आया बिलकुल नहीं जान सका। फिर उसने अपने को कमरे के भीतर खड़ा पाया।···

···कोने में दीवाल के ऊपर लक्ष्मी महारानी की मूर्त्ति उनींदी होकर ओठों में उदासी लिये खड़ी थी। नीचे गोबर से लिपी जमीन पर पूजा-सामग्री से रहित थाली मटमैली हो कर पड़ी थी और दियों की पाँच कतारें अपनी जगह पर मूक थीं, जिनमें सूखी, तेल से रहित रुई की बत्तियाँ अपने-अपने सिर झुकाये थीं। दूर पर रक्खी लालटेन की मद्धिम रोशनी रात भर की थकान लिये टिमटिमा रही थी।

सूर्या अपने कपड़े पहिने जमीन पर सिमिट कर सोया था और बिन्नू माँ की गोदी में था। उसका सिर लटक गया था माँ के घुटने से और ओष्ठ संपुट खुला था।

शान्ता दीवाल से सिर टेके, नयन मूँदे बैठी थी। उसके माथे पर बालों की एक लट झूल रही थी और अधर दृढ़ता से एक दूसरे से चिपके हुए थे।

रामस्वरूप को पैरों के नीचे अंगारे बिछे लगे। वह एक छलाँग मार कर कमरे से बाहर निकल आया······।

मुहल्ले में जाग पड़ गई थी और पास-पड़ोस के घरों में हिन्दू नारियाँ अपने-अपने सूप फटफटाकर 'दरिद्रता' को भगा रही थीं। क्रमशः सूपों की 'फटर-फटर' बढ़ रही थी।

रामस्वरूप घर के बाहर, गली में खड़ा था, अपनी खिड़की के नीचे

न उसे कुछ सुनाई पड़ रहा था, न कुछ दीख रहा था—उसका सम्पूर्ण 'बोध' नष्ट हो गया था……।

तब खिड़की के भीतर से, उस पार से, एक पुकार आई—'बाहर क्यों खड़े हो, घर में आओ।'

उस पुकार में क्रन्दन न था, क्रोध न था, फरियाद न थी, घृणा न थी, विद्रूप न था। वह सिर्फ पुकार थी, मोह में डूबी पुकार……।

इस पार खड़े रामस्वरूप के बधिर कान उस पुकार को सुन पाये। उसने सिर घुमाया, उसने आँखें खोलीं, उसने देखा। यह शान्ता थी।

डर

तेईस दिसम्बर के एक दैनिक अखबार में, पाँचवें कॉलम के नीचे यह खबर छपी थी :—

आगरा जमुना ब्रिज और फोर्ट स्टेशन के बीच एक नवयुवक ने ट्रेन के नीचे कट कर आत्महत्या कर ली। पुलिस को उसकी जेब में चिट्ठी मिली है। प्रेम में असफल होकर युवक ने यह मार्ग पकड़ा। दुर्घटना रात वाली २६ डाउन पैसेञ्जर ट्रेन से हुई है। मृत व्यक्ति का नाम रामाश्रय सक्सेना था। वह स्थानीय कालेज के तृतीय वर्ष का छात्र था...।

शकुन्तला ने इस खबर को पढ़ कर धीरे से पेज पलट दिया। दूसरे पृष्ठ पर यूरोप के युद्ध-समाचार थे। उत्तर सागर में एक विपक्षी जहाज पर ब्रिटिश वायुयान ने बम बरसाये।

शकुन्तला मन ही मन कहने लगी—यह आत्महत्या की खबर उसने भी जानी होगी, जिसके लिए रामाश्रय ने प्राण दे दिये। क्या सोचा होगा?

शायद जरूर अपने पिछले व्यवहारों पर दुखी हुआ होगा। शायद न भी हुआ हो। उसका क्या बिगड़ा? बल्कि, शायद हो सकता है, गुस्सा लगी हो उसे रामाश्रय पर कि चारों ओर उसके लिए लांछन छोड़ गया। छिः!

संसार में हाय-तोबा मचा है। संसार के युवक देश और मातृ-भूमि के लिए प्राणों की आहुतियाँ दे रहे हैं और हमारे नवयुवक मर रहे हैं प्रेम की असफलता पर! छिः!

इस रामाश्रय के मरने से किसका भला हुआ? बेचारे माता-पिता

पर क्या बीती होगी ? उसने कौन आदर्श रक्खा औरों के सामने ? कौन फल पाया ? यह भला कौन बुद्धिमानी की उसने...?

शकुन्तला ने फिर पेज पलट दिया। इस पर तसवीरें थीं। कुछ युद्ध के दृश्य थे, कुछ व्यक्तिगत, अफसरों के और नेताओं के पोज़।

शकुन्तला सब के 'परिचय' पढ़ती गई और देखती गई। नीचे कोने में जो एक तसवीर थी उसके नीचे यह छपा था :—मिस्टर श्यामबिहारी मिश्र यूनिवर्सिटी-नाट्य समिति के 'पराजय' में नायक का अभिनय करने पर आप को स्वर्ण-पदक दिया गया है। आप साइन्स विभाग के अन्तिम वर्ष में पढ़ रहे हैं...।

शकुन्तला घड़ी भर उस 'चित्र' पर नजर जमाये रही।

'पराजय' नाटक उसने पढ़ा है। प्रेम-कहानी है। सब कुछ स्वाहा करके, अन्त में प्रेमिका से घोर तिरस्कार पाकर 'हीरो' ने किसी नाटक में अभिनय करते-करते ही दर्शकों के आगे फाँसी खा ली थी।

वह मन ही मन बोली—अभिनय में झूठी असफलता, झूठा तिरस्कार और झूठा कष्ट, झूठी आत्महत्या करके दिखला देने पर 'स्वर्ण-पदक' मिलता है और वास्तविक जीवन की वास्तविक आत्महत्या करके क्या मिलता है?

बेचारा रामाश्रय !—जब गाड़ी का पहिया गरदन के ऊपर से निकला होगा !

क्यों उसने ऐसी निठुर हृदय वाली के आगे प्रेम की भीख माँगी ? जो मैं उसे कभी सामने देख पाऊँ तो मुँह पर थूक दूँ उसके, हत्यारिन...!

शकुन्तला ने पेपर बन्द करके रख दिया। जाने कैसे दुख से चित्त भर उठा। दोनों हाथ ऊपर उठा कर एक अँगड़ाई ले कर पलंग पर लेट गई। सिरहाने से कोर्स की किताब उठा ली और खोल कर उस में मन लगाया। पर मन किसी भी तरह उन अक्षरों पर नहीं रुका। जाने क्या-

क्या याद आता रहा, जाने क्या-क्या उस किताब में दीखता रहा। फिर हौले-हौले आसमान से स्वप्नपरी धीरे-धीरे उसकी आँखों पर आ उतरी...।

साल-डेढ़ साल हुई लक्ष्मी के घर की छत पर एक कटी हुई पतंग लूटते समय शकुन्तला से रघुवीर का सामना हो गया था। पतंग शायद वह भी पकड़ना चाहता था। दूसरे को उस तरह हाथ उठाते, उचकते देखा तो निश्चेष्ट हो गया। पर उस 'दूसरे' ने यह देख कर शरमा कर जल्दी से दीवाल के पीछे लुक जाना चाहा। पतंग दोनों के सिर पर से होती हुई निकल गई और नीचे गली में जा पड़ी...।

तभी से जान पहचान-सी हो गई। लक्ष्मी तो रघुवीर से बोलती-चालती थी, उस का पड़ोसी था, 'भैया' कह कर पुकारती थी। पर शकुन्तला क्यों बोले?

प्रायः ऐसे अवसर आ जाते थे कि लक्ष्मी और रघुवीर अपनी-अपनी छतों पर खड़े कोई बात करते, तब शकुन्तला चुप, सिर झुकाये अपनी किताब पढ़ती रहती। उसे उधर देखने की, उन बातों को सुनने की क्या पड़ी है?

पर रघुवीर को जैसे यह बिलकुल ही नहीं भाता। दो जनें बात करते हैं, लक्ष्मी 'खिल-खिल' करके हँसती है और तीसरा 'बुत' बना बैठा रहता है। क्या उसे हँसना नहीं आता, बोलना नहीं आता?

इसीलिए इस तरह की कोई न कोई बात प्रति वार जरूर कही जाती कि 'तीसरा' भी कुछ बोल सके, पर तीसरे ने तो मानो उन दोनों के बीच न बोलने की शपथ ले ली थी।

तब फिर रघुवीर 'प्रश्न' करने लगा। लक्ष्मी कहती—'भैया, इस बार तो हमें हिस्ट्री में कुल साढ़े चौदह मार्क्स मिले!'

रघुवीर कहता—'गनीमत है, आखिर कुछ मिले तो, 'जीरो' तो नहीं आया!' और प्रश्न करता—'इन्हें?'

इन्हें—अर्थात् शकुन्तला को।

लक्ष्मी मुस्कुरा कर 'उन' की ओर देखती, 'वे' चुपचाप किताब पढ़ती रहतीं, कुछ न कहतीं। लक्ष्मी को कहना पड़ता—'तीस से ऊपर मिले हैं।'

जब रघुवीर वहाँ से हट जाता तो फिर लक्ष्मी पूछती—'तुम रघुवीर भैया से इतना क्यों शरमाती हो ?'

'मैं तो नहीं शरमाती !'—वे कहतीं।

'तो उन से बोलती क्यों नहीं हो ?'

'मेरी तबियत !'

हाँ, तबियत की बात ठीक है। जब तबियत नहीं होती तो कोई कैसे बोले ! ना, तबियत के खिलाफ लक्ष्मी नहीं चाहती कि शकुन्तला को रघुवीर से बोलना पड़े। वह चुप हो जाती।

पर यह बात उस की समझ में कभी नहीं आती कि आखिर तबियत क्यों नहीं होती बोलने को ? तबियत किसी से बात करने को तब नहीं होती है, जब उस में कोई ऐसा 'ऐब' हो कि 'घिन' लगे, कि 'बुरा' लगे उस से बात करते। रघुवीर भैया में तो यह सब कुछ भी नहीं है। क्या शकुन्तला को उन से 'घिन' लगती है ?—लक्ष्मी की समझ में ही नहीं आता...।

...एक बार—रघुवीर छत पर आया। शकुन्तला अकेली बैठी पढ़ रही थी। उस ने आने वाले के पैरों की धमक सुनी, फिर भी सिर नहीं उठाया। रघुवीर ने पूछा—'लक्ष्मी कहाँ है ?'

—जवाब नदारद।

...दूसरी बार—रघुवीर छत पर चढ़ा। शकुन्तला अकेली बैठी लिख रही थी। उस ने आने वाले के कण्ठ की गुनगुनाहट सुनी, फिर भी ध्यान नहीं दिया। रघुवीर ने कहा—'जरा नीचे से लक्ष्मी को बुला दीजिये।'

—निश्चेष्ट।

...तीसरी बार—रघुवीर ने अपने आँगन में से पुकार कर कहा—

'लक्ष्मी, ओ लक्ष्मी, अरे जल्दी से अपनी जहर उतारने वाली टिक्की तो दे जाओ। मेरे पैर में ततैया ने काट लिया है।'

—इधर से निस्तब्धता रही।

पन्द्रह मिनिट बाद रघुवीर लँगड़ाता हुआ ऊपर आया, लक्ष्मी से नाराज़ हुआ। तब पता चला, वह ऊपर थी नहीं, नीचे चली गई थी। रघुवीर चुप लौट गया। लक्ष्मी को उस दिन बड़ा बुरा लगा, जल कर कहा—'तुम से इतना भी न हुआ कि मुझे आवाज दे देतीं!'

शकुन्तला ने कह दिया—'मैंने तो नहीं सुना—'

लक्ष्मी ने कुंठित हो कर कहा—'ठीक है!'

लड़ाई होते-होते बची।

...चौथी बार—रघुवीर ने खड़े-खड़े लक्ष्मी से कहा—'पानी लाओ घड़े का, बड़ी प्यास लगी है!' लक्ष्मी दौड़ी-दौड़ी नीचे गईं। रघुवीर ने जेब से एक लिफाफा निकाला और ताक कर फेंका 'उन' के आगे। किताब पर तो नहीं गिरा, पूजा के फूल की तरह चरणों के निकट जा गिरा।

पर 'देवी' ने कुछ भी ध्यान न दिया। भक्त खड़ा देखता रहा। पूजा चरणों के नीचे पड़ी रही। 'देवी' निर्भाव रहीं।

लक्ष्मी ने जीने में से पुकार कर कहा—'भैया, खड़े रहियो, मालपुआ ला रही हूँ तुम्हारे लिए।'

'खड़ा हूँ।'—रघुवीर ने कहा।

लक्ष्मी सीढ़ियाँ पूरी करती आई—चौथी—तीसरी—दूसरी—

सहसा देवी की समाधि टूटी। पूजा का फूल अपने कोमल कर से 'गह' लिया। भक्त प्रफुल्लित हो उठा।...

घर आ कर शकुन्तला ने लिफाफा फाड़ा। रघुवीर ने यह लिखा था—

'तुम मुझ से क्यों इस तरह का व्यवहार करती हो? क्या मुझ से

कोई भूल हो गई है ? 'मनुष्यता के नाते, यह बात जानना चाहता हूँ, लिखने की कृपा करो...।'

भूल ?—भूल तो नहीं हुई है। मैं उन के साथ क्या व्यवहार करती हूँ ? मेरे साथ उनके व्यवहार की बात ही क्या है ? कौन नाता है ? कौन आवश्यकता है बोलने की ? कौन नुकसान होता है चुप रहने से ? मैं उनकी कौन हूँ ? क्यों मुझसे बोलना चाहते हैं ? किस लिए अकारण ही मैं उन से बोलूँ ? लक्ष्मी उनकी पड़ोसिन है, वे हँसें-बोलें पर मुझसे कौन रिश्ता है ?

वे जाने क्या समझते हैं ? चिट्ठी फेंक दी मेरे आगे। लक्ष्मी देख पाती तो जाने क्या समझती। यह कोई अच्छी बात है ?

मनुष्यता के नाते !—यह कौन-सी मनुष्यता है कि अनात्मीय के आगे चिट्ठी लिख कर फेंक दो ? क्यों मेरे लिए यह चिट्ठी लिखी उन्होंने, क्या जरूरत थी ऐसी ? मेरे चुप रहने से उनका कौन नुकसान हो रहा था ? लिखने की कृपा मैं क्यों करूँ ? मुझ से सम्बन्ध ? कोई बात ही समझ में नहीं आती ! मैं क्या लिखूँ ? कैसे लिखूँ ? क्यों लिखूँ ? आखिर कोई बात भी तो हो ! मैं कुछ नहीं लिखने की......।

पर लेटे-लेटे शकुन्तला ने सोचा, कुछ जवाब न पाकर अगर फिर उन्होंने कोई ऐसी ही चेष्टा की। लक्ष्मी अगर देख पाई, अगर फिर कोई चिट्ठी-फिट्ठी फेंकी तो बहुत गड़बड़ हो जायगी। मुझे बहुत बुरा लगेगा।

तब उसने रघुवीर की चिट्ठी की पीठ पर यह 'एक लाइन' सोच कर लिखी :—

'कृपया मेरे लिए कुछ चिट्ठी आदि मत दीजिये। क्षमा।'

बस, चिट्ठी मय लिफाफे के लौट गई। झगड़ा खतम हो गया...।

तब से फिर कभी रघुवीर ने उसे लिख कर कुछ नहीं दिया। न अब बातचीत में उसकी चर्चा लाता। न कोई प्रश्न करता। यहाँ तक कि जब वह शकुन्तला को लक्ष्मी के कमरे में बैठा देखता तो हट ही जाता

पीछे को। उस समय फिर लक्ष्मी को भी नहीं पुकारता। ऐसी परिस्थिति हो गई।

इस परिस्थिति से किस-किस को सुख-दुख हुआ सो बतलाना कठिन है। दूसरे के मन का भाव इतनी-सी बात पर भला कैसे प्रकट हो ?

हाँ, एक दिन शकुन्तला ने बात करते-करते इतना लक्ष्मी से जरूर पूछा था कि तुम्हारे ये पड़ोसी भैया अब तुमसे उतनी बातें नहीं करते हैं।

लक्ष्मी ने अचरज करके कहा—'नहीं तो ! वे तो उसी तरह बोलते-चालते हैं। कल तो रहे यहाँ करीब साढ़े नौ-दस तक, एलजबरा बताते रहे हमें।'

पर रघुवीर से जब एक दिन लक्ष्मी ने कहा कि—'भैया, यह सवाल शकुन्तला से भी नहीं आया।' तो वह कुछ न बोला। इसी तरह दिन आते-जाते थे......।

पर अचानक जाने कैसे रघुवीर का वह उदास भाव बदल गया। जाने कैसे उसने यह हिम्मत कर डाली !

शकुंतला को सब कुछ जरा-जरा याद है—एक-एक बात अभी तक ताजी है।

कल शाम को नौकर देर से उसे लाने पहुँचा था। लक्ष्मी लैम्प उठाने नीचे चली गई थी कि सहसा रघुवीर अपनी छत फलांग कर अँधेरे में उसके पास आ पहुँचा और उसके आगे खड़ा होकर एकदम निर्लज्ज हो कर बोला—'शकुन्तला, मैं तुम से प्यार करता हूँ। मैं अब तुम्हारे बिना जिन्दा नहीं रह सकता !'

शकुन्तला काँपने लगी।

अँधेरे में रघुवीर ने आगे बढ़ कर उसका हाथ पकड़ लिया और जाने कैसी आवाज से कहने लगा—'रानी !'

तब शकुन्तला ने तड़ितवेग से अपना हाथ छुड़ा लिया और रोष से भर कर बोली—'अभी फौरन यहाँ से चले जाओ, बेशरम !'

रघुवीर ने बिनती के स्वर में कहा—'मेरे ऊपर करुणा करो शकुंतला, मुझ से सहा नहीं जाता !'

शकुन्तला ने तीव्र कण्ठ से कहा—'मैं तुम्हारे जैसे बदमाशों से घृणा करती हूँ ! तुम्हें अगर शरम हो तो फिर कभी मेरे आगे न आना, हटो यहाँ से !'

रघुवीर ने आँखों में आँसू भर कर कहा—'पाषाणी !'

शकुन्तला की सहन के बाहर हो गया, चिल्ला कर पुकारा—'लक्ष्मी !'

तब रघुवीर बिना कुछ बोले, मूर्ति की तरह वहाँ से हट आया।

फिर शकुंतला नौकर के आ जाने पर उसके साथ अपने घर वापस आई। ओह !

वह रघुवीर को ऐसा नहीं समझती थी। कितना वैसा आदमी निकला !

शकुन्तला ने त्रस्त भाव से मन ही मन कहा—अब आज से लक्ष्मी के घर जाऊँगी ही नहीं। रघुवीर ने अगर कुछ छेड़खानी की—ना, अब उसके घर जाना बंद किये देती हूँ। उसे नौकर भेज कर यहीं बुला लिया करूँगी।

छुट्टी का दिन था। शकुंतला भोजन करके अपने कमरे की खिड़की खोल कर खड़ी थी। इस ओर एक सँकरी गली है। लोगों का आना-जाना बहुत कम होता है। सामने के पुराने घर में एक गिलहरी किनारे-किनारे उछल-कूद कर रही थी। शकुन्तला उसका खेल देखने लगी। कि सहसा किसी ने खिड़की के नीचे आ कर पुकारा—'शकुन्तला !'

शकुंतला ने चौंक कर देखा—मैय्या री, रघुवीर हैं !

बाल बिखेरे, सूखा मुँह, आँखों में आँसू छलछला रहे थे। दीवाल के सहारे खड़ा था अधमरा-सा।

शकुन्तला को कुछ कहने की हिम्मत न पड़ी। विस्फारित नयनों से उसकी दीन चेष्टा देखती रह गई।

रघुवीर ने आँसुओं के बीच, आर्द्र कण्ठ से पुकारा—'इतनी निर्दय न होओ रानी !' और उस ने खिड़की की छड़ों पर सिर टेक दिया।

शकुंतला क्या करे ? काँपने लगी थर-थर। रघुवीर छड़ में से उसे छूने लगा।

तब घबरा कर शकुन्तला ने दोनों हाथों से एक साथ ज़ोर से खिड़की बन्द कर दी और कमरे में आकर पलंग पर लेट गई।

घंटा भर मुश्किल से बीता होगा। नौकर आँखें फैलाये बाहर से भागता आया। दीदी-माँ से कहने लगा—'गरदन अलग ! हाथ पैर अलग !'

शकुन्तला छत पर से सुन पाई। दौड़ कर, सिर खोले छज्जे पर आ कर पूछा—'किस की रे ? किस की गरदन अलग।'

नौकर ने मुँह ऊपर उठा कर कहा—'अरे छोटी बिटिया, तुम तो उन्हें जानती होगी—वे थे नहीं रघुवीर बाबू ?'

'रघुवीर बाबू !'—शकुन्तला ने स्तब्ध हो कर कहा।

'हाँ वे अभी रेल से कट मरे। गरदन अलग—हाथ-पैर अलग !'

शकुन्तला को काठ मार गया।

नौकर बोला—'अभी तक तो वहीं पटरी पर लाश पड़ी है। राम-राम, देखा नहीं गया मुझसे तो। टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं !'

शकुन्तला सिर खोले छज्जे पर उसी तरह खड़ी रही।

नौकर तेल का कनस्तर साफ करते-करते कहने लगा—'अब गये हैं घर वाले रोते-पीटते। बाप तो, सुनते हैं, बेहोश हो गये हैं। भाई गये हैं दोनों। बुरी मौत हुई। कैसा नौजवान था !'

शकुन्तला सिर खोले छज्जे पर उसी तरह खड़ी रही।

धीमरी चौके में से बोली—'क्यों कट मरे ?'

'का जानी।'—नौकर ने कहा।

सदर सड़क घर के सामने से जाती है। उधर से शोर-गुल की आवाज आई। नौकर फिर कनस्तर छोड़ कर भागा।

शकुन्तला सिर खोले छज्जे पर उसी तरह खड़ी रही।

घड़ी पीछे नौकर ने भागते आकर जल्दी से खबर दी—'लाश आ रही है—'

शकुन्तला पलक मारते अपने दरवाजे पर पहुँच गई।

सामने से सौ-डेढ़ सौ आदमियों का झुण्ड चला आ रहा था। शकुंतला अचल खड़ी थी। देखते-देखते वे लोग उसके घर के नजदीक आ पहुँचे।

वह लक्ष्मी का भाई है, आगे वालों में। और किसी को नहीं पहचान सकी। डोली में कपड़े से ढँकी शायद लाश है। कई आदमी उठाये हैं। पलक रोक कर देख रही थी।

जब ठीक उस के सामने आये तो लक्ष्मी का भाई उसकी ओर उँगली उठा कर जोर से कह उठा—'यही है!'

भीड़ रुक गई।

शकुन्तला पत्थर बनी खड़ी थी।

सब लोग एक दूसरे से कहने लगे—'यही है, यही है!'

'इसी के पीछे मरा!'

'हत्यारिन!'

'हत्यारिन!

'हत्यारिन!'

शकुन्तला पत्थर बनी खड़ी थी।

जो दो आदमी पागलों की तरह लाश को बार-बार छू रहे थे, उन से लक्ष्मी के भाई ने कहा—'इसी का नाम शकुन्तला है।'

वह शायद रघुवीर का भाई है। लाश को जो लोग उठाये थे उनसे बोला—'रख लो।'

चारों ओर से भीड़ डोली पर झुक आई।

शकुन्तला पत्थर बनी खड़ी थी।

रघुवीर के भाई ने आगे बढ़ कर खून से रँगा एक लिफ़ाफ़ा उसके आगे रख दिया।

शकुन्तला पत्थर बनी खड़ी थी।

फिर रघुवीर के भाई ने डोली के पास आकर लाश के ऊपर से कपड़ा हटा दिया।

खून से भरे मांस के टुकड़ों के बीच रघुवीर का तिरछा कटा सिर धरा था।

भाई ने झुक कर दोनों हाथों से उस सिर को उठा लिया और धीरे-धीरे आगे बढ़ कर आया।

शकुन्तला पत्थर बनी खड़ी थी।

भाई ने आगे आ कर रघुवीर का वह खून से पुता सिर शकुन्तला के आगे फेंका। और 'खट्' से वह सिर लुढ़क कर शकुन्तला के कदमों पर आ गिरा......उसी क्षण शकुन्तला की आँख खुल गई। देही बुरी तरह काँप रही थी। पसीने से लथ-पथ हो गई। चेहरा पीला जर्द, उफ़!

कैसा भयानक सपना देखा उस ने!

अब तक कलेजा धड़क रहा था।

रघुवीर का खून से पुता सिर!

शकुन्तला पलंग से कूद कर कमरे से बाहर भागी। आकर माँ को जगाया...। वह इधर से बिना खाये ही स्कूल चली गई। फिर लौटती बेला लक्ष्मी के साथ उसी के घर उतर गई गाड़ी से। नौकरानी से घर खबर भिजवा दी। भीतर लक्ष्मी की माँ से आकर कहा—'चाची जी, आज हम भी यहीं खायेंगे।'

चाची को बड़ी खुशी हुई। फौरन नौकर भेजा बाजार सामान लाने के लिए।

शकुन्तला छत के कमरे में लक्ष्मी की खाट पर क्लान्त होकर लेटी थी और बार-बार लक्ष्मी की आँख बचा कर रघुवीर की छत की ओर देख लेती

थी। आखिर लक्ष्मी ने पकड़ ही लिया। फौरन टोका—'उधर क्या देख रही हो?'

शकुन्तला की नजर नीची हो गई, शरमा कर कहा—'कुछ नहीं।'

तभी चाची ने ऊपर आ कर कहा—'बेटी, तुम कुछ जलपान कर लो। खाना तो देर में तैयार होगा, तुम्हें भूख लगी होगी।'

शकुन्तला ने मुसकरा कर कहा—'ना-ना, चाची जी, जलपान मैं नहीं करूँगी। खाना बन जाने दो, जल्दी क्या है?'

माँ लक्ष्मी को काम की जल्दी के लिए अपने साथ लेती गईं। शकुन्तला अकेली थोड़ी देर गुम-सुम पड़ी रही। फिर जाने क्या सोच कर उठ कर छत के किनारे-किनारे टहलने लगी।

धीरे-धीरे पच्छिम का आकाश लाल हो कर धुँधला होने लगा, फिर हलकी कालिमा छा गई। दक्षिणी किनारे पर एक तारा टिमटिमा उठा।

पास की छत सूनी पड़ी थी। उसी सूनी छत पर शकुन्तला की दृष्टि बार-बार आती-जाती थी और फिर थोड़ी देर के लिए सिर झुका कर छत के किनारे-किनारे टहलने लगती थी।

चारों ओर से अँधेरा घिर आने लगा। आसमान की छाती पर कई नक्षत्र चमक उठे। पूरब के किनारे पर लाल-पीला चन्द्रमा का गोला धीरे-धीरे क्षितिज के ऊपर उग आया। पेड़ के पीछे से रंगीन प्रकाश की किरण फूट उठी।

'खट्-खट्-खट्।' पास के जीने पर आवाज हुई।

'खट्-खट्-खट्।' शकुन्तला के हृदय में रक्त बजा।

गुनगुनाहट हुई—'तुम मेरी, तुम मेरे साजन......।'

शकुंतला के मन में प्रतिध्वनि बजी—'तुम मेरी, तुम मेरे साज़न...'

आने वाले ने पास की छत पर से, तनिक फासले से पुकारा—'कौन? लक्ष्मी?'

तब शकुन्तला की काँपती, धीमी आवाज गई—'मैं हूँ।'

रघुवीर ने मुँड़ेरी पर आ कर कुतूहल ले कर, अँधेरे में आँखें दौड़ा कर फिर पूछा, 'कौन ?'

वही धीमी, काँपती आवाज आई—'मैं हूँ।'

रघुवीर ने पहचान लिया। ओह !

धीरे कदम फेंक कर वह अपने जीने की ओर जाने लगा। अभी नीचे चला जायगा, अभी फौरन।

तब दूसरी छत पर से वही धीमी, काँपती, लाज-शरम भरी, डरी-सी आवाज आई—'मुझे एक काम था।'

रघुवीर अचरज में डूब गया। क्या भ्रम हुआ है ? रुक-रुक कर वहीं दूर से पूछा—'क्या मुझ से ?'

'हाँ।'—दूसरी छत से काँपती आवाज आई।

रघुवीर ने पास आकर कहा—'कहिये।'

काँपती आवाज ने कहा—'मुझे एक किताब की ज़रूरत थी।'

'कौन-सी किताब ?'

काँपती आवाज़ ने कहा—'Bacon's Essays अगर आप के पास हो तो दे दीजिये। पढ़ कर लौटा दूँगी।'

किताब आ गई। रघुवीर ने पास आ कर कहा—'लो। इसे लौटाने की ज़रूरत नहीं है। मेरे पास दो हैं।'

शकुन्तला ने किताब ले ली और चुप खड़ी रही, वहीं रघुवीर के पास।

रघुवीर ने ही फिर पूछा—'क्या इसीलिए आई थीं यहाँ ?'

शकुन्तला ने अँधेरे में शरमा कर कहा—'मैं कई घण्टे से आप का इन्तज़ार कर रही थी।'

'अच्छा !'

'क्या आप कहीं और चले गये थे कालेज से ?'

'नहीं। आज सुभाषचन्द्र बोस आये हैं न। मैं 'स्वागत-समिति' का

मन्त्री हूँ। अभी खाना खा कर फिर लौट जाऊँगा। टाउनहॉल में इस समय उनकी 'स्पीच' है।

शकुन्तला चुप खड़ी रही, वहीं रघुवीर के पास।

रघुवीर ने ही फिर पूछा—'तुम मुझ से इतने दिन से नाराज़ थीं क्या शकुन्तला?'

लाज-हर्ष-उल्लास से कहा, बहुत ही कठिनता से—'नहीं।'

'तो फिर बोलती क्यों न थीं?'

शकुन्तला ने हौले से कहा—'मुझे शरम लगती थी।'

रघुवीर ने हँस कर उसका हाथ अपने हाथ में दाब लिया, फिर धीरे से कहा—'पगली!'

खट्-खट्-खट्!

शकुन्तला ने घबड़ा कर कहा—'लक्ष्मी आ रही है!'

रघुवीर सड़ाक् से नीचे उतर गया।

'कौन था।'—लक्ष्मी ने लैम्प रख कर पूछा—'किस से बातें कर रही थीं?'

'नहीं तो, कोई भी तो नहीं था!'

'ठीक!'—लक्ष्मी ने कहा—'अब समझ में आया कि रघुवीर भैया से क्यों श्रीमती जी नहीं बोलती थीं। चोट्टिया!'

शकुन्तला ने झूठी नाराज़गी से कहा—'क्यों मुझे गाली दे रही हो? मैंने क्या चोरी की है?'

लक्ष्मी ने उसके दोनों हाथ पकड़ कर, सिर हिला कर, मुसकरा कर कहा—'चोरी तुमने की है। हमारे रघुवीर भैया का दिल चुराया तुमने, समझीं!'

शकुन्तला ने भवें तिरछी करके कहा—'ख़बरदार, मुँह सम्हाल कर बात करो !'

लेकिन लक्ष्मी पर एक असर न हुआ। छाती के ऊपर दोनों हाथ धर कर, गहरा प्रश्वास लेकर धीरे से कहा—'हाय भाभी......!'

यह घटना पिछले दिसम्बर की है। इस दिसम्बर में शकुन्तला की शादी रघुवीर से तय हो गई है। ब्याह गरमियों में होगा।

अब शकुन्तला लक्ष्मी के घर नहीं आती है।

मास्टर

मकानवाली बुढ़िया ने कहा—'बेटा, जल्दी करो,—लो बहू के मुख में गंगाजल डालो।'

मास्टर ने उसी बेहोशी में गंगाजली उठा ली, फिर आ कर खड़ा हो गया। सामने, धरती पर पुरानी दरी के ऊपर निश्चल-निस्पन्द पड़ी मरणोन्मुखी पत्नी की ओर आँखें फाड़ कर देखता रहा। निःश्वास धीरे-धीरे बन्द हो रहा है!

बुढ़िया ने सिर घुमा कर कहा—'अरे, खड़े क्या हो! जल्दी करो बेटा दही-सोना मुख में दो।'......

घर के नीचे हलवाई की दूकान थी। उस की घरवाली बहुत अच्छी है। दौड़ कर दही ले आई। फिर अपनी कान की 'बाली' में से थोड़ा-सा सोना खुरद कर मास्टरनी के मुख में दोनों चीजें डाल दीं।

और तब साँस धीरे-धीरे बन्द हो गई......।

दूकान अब तक खुली थी। हलवाई की घरवाली ने आ कर कहा—'क्या कर रहे हो? दूकान बढ़ा दो। ऊपर मुर्दा धरा है और तुम सौदा बेच रहे हो! जाओ, बाजार से सामान-वामान लाओ। मास्टर बेचारे अकेले हैं।'

तब दूकान बन्द करके मोहल्ले के दो आदमियों को साथ ले कर हलवाई मरघट का सामान लेने चला......।

दोनों औरतें लाश के पास बैठी थीं और मास्टरनी के मृतमुख को देख-देख कर धीरे-धीरे रो रहीं थीं। मास्टर नीचे उतर गया......।

कोई नहीं है। इस मरे हुए ग़रीब प्राणी के लिए कोई जोर से रोने वाला भी नहीं है।

हरीशंकर जाने कहाँ पड़ा था। चुपचाप आ कर बुढ़िया के पीछे खड़ा हो गया। तब से शायद रो रहा था। अब चुप हो गया। माँ के नयन मुँदे, शान्त चेहरे की ओर टकटकी लगा कर देखने लगा। वह कुछ नहीं जानता। बहुत थोड़ी उमर है। मृत्यु की विभीषिका से नितान्त अपरिचित है। इसी से शायद खड़ा-खड़ा सोच रहा था कि अम्माँ को यह क्या हो गया है।

बुढ़िया ने देख पा कर रोते-रोते कहा—'हरी बेटा, अब अम्माँ को जी भरके देख ले!'

सुन कर हरीशंकर फिर रो उठा। उसे कोई समझाने वाला नहीं है। सुबह से दस बार इसी तरह रो उठा है और चुप हो गया है......।

और सब आ गया। केवल कफ़न के ऊपर का 'रङ्गीन कपड़ा' नहीं लाये। रङ्गीन कपड़ा घर से मिल जायगा।

मास्टर से कहा—'देखिये तो, ढूँढ़ लाइये।'

पारसाल इन्हीं दिनों में, बहुत आग्रह करके एक रेशमी साड़ी ख़रीद कर ला दी थी। फिर एक बार उसे पहने भी देखा था। कैसी मनोरम लग रही थी!

फालसई रङ्ग की वह रेशमी साड़ी, पति की इतनी इच्छा-अभिलाषा की वस्तु, इतनी गाढ़ी कमाई की! पहली बार जब उस साड़ी को पहन कर सामने आई तो आनन्द से मास्टर का चेहरा खिल उठा। मुसकरा कर कहा—'आइये रानी जी!'

पत्नी ने लजा कर मुँह फेर लिया। फिर कोठरी में आकर, आलमारी की किवाड़ पकड़ कर रोई। जाने क्यों आँसू निकल आये।

तब से वह साड़ी फिर और काम में नहीं आई। केवल धरी रही। अब आज काम में आयेगी......!

'हरी, ओ हरी ! नीचे आओ तो बेटा।'—हलवाई ने मास्टर से पूछा—'दाह तो उसी के हाथों होगी न ?'

'हाँ।'

'हरी बेटा, लो बाल तो बनवा लो।'

नाई ने उस्तरा से सिर मूँड़ दिया। कफ़न में से एक हाथ भर का टुकड़ा कन्धे पर डालने को मिला।

तब आगे-आगे चार आदमी मुर्दे को लेकर 'राम नाम सत्त है' कहते चले।

× × ×

अनेक यत्न करके, बहुत दौड़-धूप करके यह चालीस रुपये की जगह पाई थी। इससे बढ़ कर और कुछ नहीं हो सकता था। चालीस रुपये !

जिस दिन यह नौकरी लगी थी, माँ ने गीत गवाये थे, एकादशी का व्रत रक्खा था।

रात को जब पत्नी से भेंट हुई तो मास्टर ने सहसा पूछा था—'तुम्हें खुशी हुई ?'

पत्नी के चेहरे पर मुसकराहट खिली थी, बोली—'बहुत !' फिर घड़े से एक गिलास ठंडा पानी ला कर पति के हाथों में देती-देती कह उठी—'तुमने वायदा किया था—याद है ?'

मास्टर ने गिलास थामे-थामे पूछा—'अच्छा बतलाओ !'

'पेट भर कर मिठाई खिलाने की शर्त्त थी। थी कि नहीं ?'

मास्टर ने हँस कर मान लिया—'हाँ थी।'

'फिर ?'

'अच्छा खिलायेंगे।'

फिर जब एक दिन सचमुच बाजार से दोना भर मिठाई आ गई तो पत्नी अचरज में डूब गई, बोली—'आज यह तुम ने क्या कर डाला !'

'क्यों ? क्या हुआ ?'

और तो कुछ उपाय नहीं सूझा, वबड़ा कर बोली—'जाओ, अभी हाल अम्माँ को दे आओ।'

'क्यों ?'

'मैं तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ। देर मत करो। जल्दी से दे आओ।'

फिर दूसरे दिन उसने अम्माँ से अपने लिए मिठाई माँगी थी। उसमें से आधी पति को दी......।

बहुत दिन हुए। नौकरी वह तब से कर रहा है। महीना पूरा करके दूसरी-तीसरी तारीख़ को चालीस रुपये गिन कर ले आता है। इस के बाद फिर उन्तीस दिनों तक चुपचाप पढ़ाता रहता है। 'गुन-गुन' करके दर्जे के लड़के पढ़ते रहते हैं। सामने का पीपल का पेड़ हवा से हिलता रहता है। पिछवाड़े सड़क पर इक्का, ताँगे, मोटर दौड़ते रहते हैं। तब, इन सब के बीच मास्टर अपनी काली, चिकनी कुर्सी पर ऊँघता-सा बैठा, विश्व के पूर्वापर पर विचार करता रहता है—जाने क्या-क्या सोचता है—जाने कहाँ उसका मन रहता है।

इसी तरह सर्दी-गर्मी-बरसात पूरी करके साल निकल जाती है।

लड़के पढ़ते हैं, पीपल हिलता-डुलता है। मास्टर बैठा ऊँघता-सा सोचता रहता है।

न लड़कों की पढ़ाई समाप्त होती है, न पीपल के पत्ते रुकते हैं, न सड़क सुनसान होती है और न मास्टर के सोचने का अन्त आता है।

सर्दी-गर्मी-बरसात पूरी करके साल निकल जाती है।

इन्हीं विरामहीन सालों में किसी एक दिन मास्टर की माँ मर चुकी। सब उसी तरह है...।

इस मास्टर [illegible] चते रहने की आदत बहुत खराब थी। भला आदमी जाने क्यों इसके पीछे पड़ गया था। यह भी कोई काम था!—सोचता था और सोचता था।

शायद वह नौकरी की बात सोचता था कि उसे कोई बहुत अच्छी नौकरी मिलती—जैसे हेडमास्टरी !

शायद वह अपनी पत्नी की बात सोचता था कि उसे सब तरह से सन्तुष्ट करता। वह मास्टर को बहुत ही प्रिय थी। उस ने मास्टर को बहुत सुख दिया था। वही एक मास्टर का आश्रय और शान्ति थी। शायद इसी लिए वह पत्नी के बारे में सोचता रहता था कि, उस के लिये जेवर-कपड़ा-नौकरानी यह सब सुख इकट्ठे कर पाये।

या शायद वह...

और तो कुछ था नहीं। और किस के लिए क्या सोचता ?

समाज, जाति, देश ?

मानसिक उन्नति ?

मोक्ष ? परमात्मा ?

—मास्टर की बुद्धि क्या खा कर इन विषयों तक पहुँचे !

और हम यह कहते हैं कि, कितनी मोटी बात है वह भला, 'हेडमास्टर' कैसे हो सकता था—किस तरह हो सकता था ? फिर वह हेडमास्टरी की बात क्यों सोचता था ? न वह औरत को जेवर-कपड़ा-नौकरानी दे सकता था। कैसे देता—कहाँ से देता ?—फिर वह पत्नी के सुख की बात क्यों सोचता था।

इस मास्टर में यह सोचते रहने की आदत बहुत खराब थी। भला आदमी जाने क्यों इस के पीछे पड़ गया था। यह भी कोई काम था !—सोचता था और सोचता था।

यह पारसाल की बात है। अब वह सब नहीं है। अब मास्टर की पत्नी मर गई है। तब से वह बदल गया है। अब शायद उस सोच-विचार का अन्त हो गया है। मास्टर को देखने से ऐसा ही लगता है।

× × ×

इस आदमी की कहानी बहुत छोटी है। कुछ भी पाठकों को सुनाने

लायक नहीं है। इस तरह के जाने कितने आदमी दुनिया में पड़े हैं। ऐसे आदमी का 'चरित्र' आलेख्य नहीं होता—न उसे पाठक पसन्द ही करते हैं।

मास्टर की कहानी छोटी है। उस ने कुछ भी नहीं किया। वह एक छोटे-से गाँव में एक छोटी-सी हैसियत के घर में पैदा हुआ। फिर गरीबी और अभाव के बीच उसने—बहुत मन लगा कर, दिन-रात एक करके परीक्षाएँ पास कीं, फिर बहुत कोशिश करके चालीस रुपये की नौकरी कर ली। गाँव के एक साधारण गृहस्थ की थोड़ी-सी पढ़ी-लिखी, सीधी-सादी किशोरी से उस का ब्याह हुआ और छः साल का एक लड़का छोड़ कर वह मर गई।—बस, इतनी-सी कहानी है...।

न तो इस मास्टर में कुछ है न उस के छोकरे में और न उस गाँव की युवती में कुछ था...।

मास्टर बहुत कड़ी मेहनत करके अपने क्लास के लड़कों को पढ़ाता है, बहुत जोर लगा कर लड़कों को योग्य बनाता है—क्लास को 'अव्वल' करता है। न किसी से लड़ता-झगड़ता है, न लड़कों को मारता-पीटता है, न दो पैसा ऐंठने की तरकीब करता है। बहुत जी लगा कर, गफलत छोड़ कर वह पढ़ाता है। पढ़ाने के चालीस रुपये मिलते हैं।

—यह सब साधारण बात है।

हरीशङ्कर की उमर सात साल की हो रही है। वह गोरे रङ्ग का, सलोने मुख का बालक है। बाप के साथ स्कूल आता-जाता है। बाप के पास, क्लास के और लड़कों के साथ बैठा पढ़ता-लिखता है। न कभी जिद करता है—न किसी को खाते-पीते देख कर ललचाता है। जो, जैसा, जब बाप कहते हैं चुपचाप करता रहता है।

—यह सब साधारण बात है।

मास्टरनी तो मर गई है। उस का क्या बयान करें? जैसे भले घर की औरतें रहती हैं, वह गृहस्थी चला रही थी। उस ने कभी न अच्छा

खाया-पिया, न पहना-ओढ़ा। पति की जितनी औकात थी, चालीस रुपये के हिसाब से, उसी में सब सुख, मान कर रूखी-सूखी खा कर, नंगे-उघारे रह कर हँसी-हँसी दिन काट रही थी। जिन्दगी भर ऐसे ही रही। न कभी किसी से मन मैला किया, न कभी कोई फरमाइश की। मौत आई तो मर गई।

—यह सब साधारण बात है।

× × ×

अब यह हाल है कि, सुबह उठ कर बाप-बेटा मिल कर घर को झाड़ते-बुहारते हैं, फिर नहाते-धोते हैं, सन्ध्या-गायत्री जपते हैं, फिर रोटी बनती है, एक थाली में परोस कर खाते हैं और फिर कपड़े पहन कर चुप-चुप स्कूल चले जाते हैं।

शाम को चुप-चुप लौट आते हैं, फिर रोटी बनती है, एक थाली में परोस कर खाते हैं, फिर एक खटिया पर दोनों सो रहते हैं।

—यह भी कोई जीवन है।

न कुछ जाति का भला करते हैं न राष्ट्र का। न 'स्टडी' की, न धन कमाया, न किसी का उपकार किया। कुत्ते-बिल्ली की तरह पेट पाल रहे हैं। कुत्ते-बिल्ली की मौत एक दिन मर जायेंगे। छिः !...

अभी दस दिन हुए, घरवाली की 'बरसी' की थी। बाजार से खरीद ला कर छोटे-छोटे पाँच बर्तन दे दिये और एक जोड़ा। बाकी दस-बारह आदमियों ने खाना खाया।

ऐसी नाममात्र की 'बरसी' के बिना कौन नुकसान हो जाता ! मास्टर की बुद्धि अजीब है...!

अब सर्दी पड़ने लगी है। लड़का उसी पुराने फटे कोट में स्कूल जाता है, नया कोट नहीं बना। पैसे तो सब उठा दिये बरसी में। अब वेतन मिलेगा तो कोट भी बन जायगा। खुद भी सूती कोट पहिने हैं।

लेकिन उस के पास ऊनी 'स्वेटर' है। उसे नहीं पहनता। सन्दूक में सम्हाल कर रक्खे है, कहता है—'उस की निशानी है!'

यह भी कोई बात हुई!

ऐसा ही प्रेम था तो 'उस' की दवा-दारू ढङ्ग से क्यों न की? कौन जाने बच ही जाती। डाक्टर साहब अब तक याद करके हँसते हैं। जब इस की घरवाली खाट पर पड़ी थी तब एक दिन जाने क्या सोच कर यह हमारे डाक्टर साहब के पास आया और कहने लगा—आप 'उसे' अच्छा करने की गारन्टी ले लें तो मैं आप को जिन्दगी भर दस रुपये माहवार दूँगा।'

डाक्टर साहब को बड़ी हँसी आई। यह तो उसी समय 'दस्तावेज' लिखने को तैयार था।

भला कहीं इस तरह इलाज होता है?

डाक्टर साहब अब तक याद करके हँसते हैं।

चालीस रुपल्ली का नौकर! उस में से दस देता डाक्टर को। आप क्या फिर भुस खाता...!

सर्दी से सिरसिराता है, स्वेटर नहीं पहनता, कहता है—'उस की निशानी है।'

× × ×

प्रान्त में बाढ़ आई। हजारों आदमी बे घर-बार के हो गये, हाहाकार मच गया। जनता से सहायता की अपील हुई। सरकार की ओर से चन्दा हो रहा था, कांग्रेस भी लगी थी। कांग्रेस के सभापति, मन्त्री, उन के सहकारी, यहाँ तक कि स्त्रियाँ भी, झोले ले कर माँग रहे थे कुछ दो—कुछ सहायता करो!—पैसा-कपड़ा-अनाज।

एक टोली इन के स्कूल में भी आई। पड़ोस के वकील साहब की दोनों बड़ी लड़कियाँ मास्टर को पहचानती थीं। देखा तो सामने आ पहुँचीं। मास्टर उठ कर खड़ा हो गया।

लड़कियों ने कहा—'कुछ दीजिये मास्टर साहब !'

—क्या दें ?

तब तक उन के स्कूल की प्रिन्सिपल भी आ गईं—'हाँ-हाँ, कुछ दीजिये, आप से बहुत आशा है ।'

—क्या दें ?

लड़कियाँ सोच रही थीं, क्या देंगे, बेचारे, कुल चालीस-पचास पाते होंगे, क्या देंगे !

मास्टर ने कोट की जेब में हाथ डाला और जो कुछ था सब निकाल कर प्रिन्सिपल के हाथ पर धर दिया । फिर जाने कैसी करुणाभरी टोन में कहने लगा—'मैं बहुत गरीब आदमी हूँ, इतना ही है ।'

प्रिन्सिपल ने देखा तो दंग रह गईं । दस रुपये !

पूछा—'क्या मिलता है आप को ?'

'जी, चालीस ।'

प्रिन्सिपल अवाक् रह गईं । फिर उस के सूखे मुँह की ओर देख कर कहा—'आप—आप बहुत ही उदार हैं । मैं आप को क्या धन्यवाद दूँ !'

मास्टर ने सिर झुका लिया ।

लड़कियों ने हाथ जोड़ कर नमस्ते की और चली गईं ... ।

शाम को हमेशा की तरह चुप-चुप दोनों बाप-बेटे चले आ रहे थे । आज जैसे बहुत दिनों के बाद सोचने को एक बात मिली । '...आप बहुत ही उदार हैं मैं आप को क्या धन्यवाद दूँ ...!'

हरीशङ्कर से कहा—'वे आज जो आई थीं, उन्हें देखा तू ने ?'

'हाँ देखा था ।'

'कैसी थीं ?'

'अम्माँ की तरह थीं ।'

मास्टर चुप रह गया । घड़ी भर सोच कर कहा—'बहुत बड़ी आदमिन थीं वे !'

हरी बोला—'सोने की जंजीर पहिने थीं।'

'तुझे अपनी अम्माँ की याद है?'

'हाँ, उन के पास तो जंजीर नहीं थी।'

जंजीर नहीं थी—सोने की जंजीर!

हँस कर मास्टर ने कहा—'सब पैसे ले गईं हमारे।'

हरी ने कहा—'तुम्हीं ने तो दे दिये चाचा!'

मास्टर कुछ नहीं बोला।

× × ×

दूसरे दिन छुट्टी हुई। स्कूल तो जाना नहीं था। खा-पी कर लेट रहे। बाढ़ के समाचार पढ़ने के लिए हेडमास्टर से एक दिन पहले का अखबार लेते आये थे—उसी को पढ़ते रहे।

कैसी-कैसी बातें लिखी हैं इस अखबार में। जिन-जिन के नाम इसमें छपे हैं, वे सब बहुत बड़े आदमी हैं, उन्हें सब दुनिया जानती है उनकी कीर्त्ति फैल रही है, धन्य हैं वे लोग!

मास्टर को कोई नहीं जानता, उस ने कुछ नहीं किया है, वह बहुत ही नीचे है—बहुत नीचे ...।

...हरीशङ्कर बाहर सड़क पर सुन आया—सरकस आया है। बाजे बजते जा रहे थे, आगे-आगे दो हाथी थे, पीछे तसवीर लगे बड़े-बड़े ठेले थे। बड़ी अजीब तसवीरें थी। इश्तहार बँट रहे थे।

शेर पर बकरा चढ़ेगा, आदमी शेर के मुँह में अपना सिर दे देगा, तार पर साइकिल चलेगी, बन्दर फुटबाल खेलेगा!

—सरकस में बहुत खेल होंगे।

हरीशङ्कर ने आ कर घिघिया कर कहा—'चाचा, सरकस देखेंगे।

इस करुणा-विनती-भरी वाणी का मोल केवल मास्टर के निकट है। हरीशङ्कर की फरियाद और अपील अब सब यहीं पर निबट जाती है।

कहा—'देख आना।'

'आज शाम को ?'

'आज शाम को ही देख आना, कितना टिकिट है ?'

'आठ आना है, लड़कों का चार आना लगता है। ब्रजकिशोर जायेंगे, उन्हीं के साथ हमें भी भेज देना।'

'अच्छा...।'

...जेब में एक पैसा नहीं। लड़के से सरकस देखने की 'हामी' भर दी है। तीसरे पहर को चुपके-चुपके घर से निकले। किस से माँगें...?

एक साथी थे। उन की बैठक में जा पहुँचे। इधर-उधर की बातें होती रहीं। चलने को ही थे कि साहस करके कहा—'एक रुपया होगा तुम्हारे पास ? मिलते ही दे दूँगा।'

साथी चौंके, झिझक कर बतलाया—'रुपया क्या, एक आना भी नहीं है।'

'कोई बात नहीं है—कोई बात नहीं है। अच्छा, नमस्ते !'

'नमस्ते।'

—अब ? ख़ाली हाथों, ख़ाली जेब चले थे, वैसे ही लौट आये। घर के नीचे आ गये तो हलवाई को देखा, झेंप कर याचना की।

उस ने सन्दूकची खोल दी, पल्ला दिखा कर हँस दिया, एक राँगे की ख़राब दुअन्नी पड़ी हुई थी और दो-चार पैसे थे।

आ कर चुपचाप लेट रहे...।

हरीशंकर ब्रजकिशोर से कह आया था—'हम भी चलेंगे दादा, तुम्हारे साथ, बुला लेना।'

और बाप का सन्दूक खोला, उस में से कमीज़ निकाली। हलवाइन चाची से जा कर उस में बटन टँकवाये।

मास्टर चुप लेटा रहा। कोई उसे एक रुपया भी उधार नहीं दे सकता। क्या करे ? लड़के का मन कैसे मारेगा ?

फिर उठे। नीचे मकान वाली बुढ़िया के आँगन में आये। आँखों का अंजन बना रही थी। देखते ही बोली—'बेटा, ये अंजन बहुत बढ़िया है। देखो, राम चाहेगा तो कल तक तैयार हो जायगा। तुम्हें भी दूँगी, लड़के की आँखें मैली रहती हैं, लगा दिया करना। बहू थी तो रोज़ उस के अंजन लगाती थी। वह चली क्या गई, दुरगत हो गई तुम्हारी। लक्ष्मी थी!'

'हाँ, देना हमें भी।'—मास्टर बोला—'बुआ, तुम्हारे पास कुछ पैसे तो न होंगे?'

'कितने चाहिये? पैसे बेटा अभी हाल एक सहेली माँग ले गई है, कितने चाहिये तुम्हें?'

'चार आने।'

'चार आने तो नहीं हैं बेटा, दस पैसे हैं, दस पैसे से काम चले तो ले जाओ।'

—दस पैसे ...!

× × ×

हरीशकर सज-सजा कर सामने आ खड़ा हुआ और हँस कर बोला—'लाओ चाचा, टिकिट के दाम दो।'

हाय, क्या कहें?

दिल कड़ा किया, कह दिया—'पैसे नहीं हैं।'

हरी का मुँह उतर गया। उदासी में बोला—'तुम ने तो कह दिया था!'

'नहीं हैं।'—और क्या कहें?

'हम तो जायेंगे, सब लड़के जा रहे हैं।'

'मत जाओ।'

'हम तो ज़रूर जायेंगे, सब जा रहे हैं?'

'जाने दो सब को।'

'तुम पैसे क्यों नहीं दे रहे हो चाचा?'

'नहीं देंगे पैसे,—बैठो चुपचाप।'

'हम तो—'

—मास्टर चुप।

'हम—'

'नहीं चुपेगा सुअर?'

'हम तो जायेंगे।' रो कर हरी ने कहा—'हमें पैसे दो।'

'अच्छा, ले पैसे!' मास्टर उठा, उसे बहुत क्रोध आया, पास आ कर लड़के के गाल पर कस कर एक चाँटा मारा।

हरी चिल्ला पड़ा।

एक चाँटा और लगाया!

और ज़ोर से रोया।

तब और मारा! और मारा!

और दुखिया कर रोया।

तब ख़ूब मारा!

उस पर जैसे प्रेत-पिशाच चढ़ आया था।

हरी वहीं ज़मीन पर बैठ गया और ख़ूब चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगा।

'नहीं चुपेगा हरामख़ोर!'—मास्टर फिर उठा—'नहीं चुपेगा!' और कस कर पीठ पर एक लात मारी!

'हाय अम्माँ!'—लड़के की आँखें निकल आईं।—'हाय मैय्या!'

लोटने लगा...।

मास्टर ने दरवाज़ा बन्द किया, साँकल चढ़ा दी और बाहर निकला। ब्रजकिशोर नीचे खड़ा मिला, उस से कह दिया—

'नहीं जायेगा वह, तुम जाओ।'

× × ×

कितनी रौनक़ है! कितना शोरग़ुल है! बाज़ार में मोटरें इधर से

उधर दौड़ रही हैं। दूकानों में जगमग-जगमग हो रही है। कितनी चीज़ें हैं! कोई लाख रुपया ले कर आये तो भी सब नहीं ख़रीद सकता।

सामने से एक कार आई, आ कर रुक गई। ड्राइवर ने दरवाज़ा खोला। भीतर से एक लड़का निकला। कैसे सुन्दर कपड़े पहिने है! काला है, लेकिन 'ड्रेस' तो देखो, बीस रुपये का तो अकेला जूता होगा।

फिर मालिक निकले, फिर मालकिन। दूकानदार खड़ा राह देख रहा था—'आइये-आइये!'

तीनों ऊपर चढ़ आये। आकर कुरसियों पर जा बैठे।

'क्या ख़रीदेंगे?'

'रेडियो!'

लड़के को बहुत शौक़ है, मानता ही नहीं। बारह सौ रुपये का बड़ा रेडियो सेट घर में मौजूद है। लड़के को छोटा-सा रेडियो सेट चाहिये। अपने कमरे में लगायेगा, दोस्तों को 'बच्चों का प्रोग्राम' सुनायेगा। मानता ही नहीं।

मालिक परेशानी से सुना रहे हैं।

लड़का हँस रहा है। दूकानदार भी हँस रहा है।

'क्यों साहब, क्या चाहिये आप को?'

'कुछ नहीं।'—मास्टर ने धीरे से कहा और चल दिया...।

...उस रास्ते से गया था, इधर से लौटा। पार्क के बीच सरकस हो रहा है। चारों ओर असंख्य लट्टू जल रहे हैं—दिवाली-सी हो रही है, मधुर बैण्ड बज रहा है।

एक आदमी खिड़की के उस पार बैठा टिकिट बाँट रहा है। रुपये-पैसे-नोट!

सैकड़ों लड़के घुसते चले जा रहे हैं।

'आप टिकिट ख़रीद रहे हैं क्या?'

'जी, नहीं।'—मास्टर ने धीरे से कहा और चल दिया...।

घर आ कर किवाड़ें खोलीं। लालटेन जलाई, फिर उजाला ले कर इधर आये।

...उसी तरह ज़मीन पर सिर टेंके रोते-रोते जाने कब हरीशंकर सो गया था। आँसुओं की मोती-सी बूँदें गालों पर अभी तक उसी तरह लगी थीं

मास्टर ने लालटेन रख दी। वहीं ज़मीन पर बैठ गया। फिर उस मातृहीन बालक के सिर पर हाथ फिरा कर, काँपती आवाज़ में पुकारने लगा—'हरी, बेटा हरी!'

बालक ने आँखें खोलीं। सहसा सामने पिता को पा कर भय से उस का कुम्हलाया मुख और अधिक पीला पड़ने लगा।

हाय, अब जाने क्या करेंगे!

मास्टर ने उसी काँपती आवाज़ में कहा—'बेटा, हमारी गोद में आ जाओ।'

मास्टर ने बालक को कस कर सीने से लगा लिया और अधिक सटा कर रो कर कहा—'बेटा...!'

...वकील साहब की दोनों लड़कियाँ खिड़की खोल कर हवा ले रही थीं।

मास्टर अपने बेटे को छाती से लगाये रो कर कह उठा—'बेटा!'

हरी ने अपना मुँह उठा कर पिता के सामने कर लिया, फिर वह रोता-रोता कहने लगा—'तुम रोओ मत चाचा, अब मैं सरकस देखने को कभी नहीं कहूँगा...'

लड़कियों ने यह दृश्य देखा तो बड़ा अचम्भा लगा। ताली बजा कर, हँस कर बोलीं—'अरे, इस मास्टर को क्या हुआ है!'

फिर हँसतीं-हँसतीं पीछे को हट गईं। रेडियो खोल लिया और गाना सुनने लगीं।

—o—

शीशे की देही

दलपतगंज तहसील का नाम था। बीस-बाईस हज़ार की आबादी थी। हिन्दू ज़्यादा थे ; हिन्दुओं में भी बनियों की संख्या सबसे ऊपर थी।

कचहरी के ठीक सामने पातीराम की दूकान थी, मिठाई की। मुवक्किलों और गवाहों से ही यह दूकान चलती थी। हलवाई पातीराम का पेड़ा और कलाकन्द मुक़दमेबाज़ों में ख़ूब मशहूर हो गया था। पातीराम बनाता भी बहुत कारीगरी से था। एक बार पेड़ा या कलाकन्द खा लेने पर दिन भर मुँह से खुशबू आती थी।

छोटी-सी दूकान थी, छोटी-सी गिरिस्ती थी। घरवाली और पातीराम, बस। बाल-बच्चा कोई हुआ ही नहीं। सुग्गा पाल लिया था एक, उसे 'राम-राम' बोलना सिखा दिया था। घर के आँगन में उस का पिंजड़ा टँगा रहता और सारे दिन वह 'टें-टें' करके बोलता रहता। तीसरा प्राणी यह था।

पातीराम साधारण क़द का सीधा-सादा आदमी था। कंजूस और लोभी तो ज़रूर था, पर बेईमानी नहीं करता था और बोलने-चालने में बड़ा मीठा था। उसे साधु-सन्तों में बड़ी श्रद्धा-भक्ति थी। यथाशक्ति उन का सेवा-सत्कार भी करता रहता था।

भादों आधे बीत चुके थे। कई दिन में 'झड़ी' लगी थी। घड़ी-दो घड़ी को पानी रुकता और फिर बूँदें गिरने लगतीं। बादल आँख न उघारता।

ऐसे ही समय, एक दिन साँझ की बेला एक अधबूढ़े साधू जी दूकान के आगे आ खड़े हुए। थोड़ी-थोड़ी बूँदें पड़ रही थीं। साधू जी सिर पर अँगौछा डाले थे। पातीराम ने देखा तो हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया और दूकान के छप्पर के आगे आ कर विनम्र स्वर में कहा—'महाराज, ऊपर आ जाइये।'

साधू जी ने उसे आँखें भर कर निहारा और दूकान पर चढ़ आये।

भक्ति और वैराग्य की बातें होने लगीं। दिये जल गये तो पातीराम हाथ जोड़ कर बोला—'महाराज, रात हो गई, आप भूखे होंगे। आज्ञा हो तो घर जा कर भोजन का प्रबन्ध करूँ।'

साधू जी ने कहा—'हाँ, भूखा तो मैं भाई ज़रूर हूँ। पर तुम्हारी सेठानी को कष्ट न हो—'

पातीराम ने हाथ जोड़ कर कहा—'महाराज, ऐसी बात न कहें, हम तो सन्तों के सेवक हैं। आप यहीं बिराजें, मैं अभी आया।'

साधू जी दूकान पर बैठे सन्ध्या-वन्दन करते रहे। जब भोजन आ गया तो ईश्वर का नाम लेकर खाने लगे।

पातीराम उन से 'यात्रा' की बातें पूछता रहा। भोजन समाप्त हो गया। फिर साधू जी अनेक अद्भुत बातें बताते रहे। धीरे-धीरे रात खिसकने लगी।

अन्त में, साधू जी ने कहा—'अब तुम जाओ भाई, भोजन-शयन करो। कुबेला होने लगी।'

पातीराम ने साधू जी के लिए वहीं एक खाट डाल दी और दूकान बढ़ा कर घर जाने लगा। उस समय साधू जी ने अपनी चादर खोल कर कहा—'लो, यह तुम लिये जाओ। शीशे का पात्र है सुन्दर-सा! एक भक्त ने दे दिया; माना ही नहीं। मेरे किस काम आयेगा। तुम अपने उपयोग में लाना।'

पातीराम ने हाथ बढ़ा कर वह शीशे का बरतन ले लिया और साधू जी को 'प्रणाम' करके चला आया।

× × ×

घर से बीस क़दम पर रहा होगा कि ज़मीन पर कोई चमकती हुई चीज़ पड़ी मालूम हुई। झुक कर देखने लगा। क्या है? और झुका और झुका, लोभ सताने लगा। चमकती हुई चीज़ उठा लेनी चाही।

अभी ज़मीन पर उस ने हाथ लगाया ही था कि दूसरे हाथ से वह

शीशे का पात्र खिसक गया और गिर कर वहीं 'खन्न' करके चकनाचूर हो गया !

अत्यन्त क्षुब्ध होकर पातीराम ने वह चमकदार चीज़ आँखों के पास ले जा कर देखी—टीन का गोल टुकड़ा था एक !—सामने पात्र टूटा पड़ा था।

खिन्न मन से, टीन के गोल टुकड़े को दूर कीचड़ में फेंक कर पातीराम अलस गति से घर में घुसा। चुपचाप भोजन किया और बिस्तर पर जा पड़ा। शीशे के पात्र की बात पत्नी से नहीं कही।

× × ×

भोर के समय पातीराम ने सोते-सोते एक स्वप्न देखा। देखा कि साधू जी सामने खड़े हैं। पातीराम के हाथों में वही टीन का टुकड़ा है और पैरों के पास वही शीशे का पात्र फूटा पड़ा है। साधू जी ने क्रुद्ध नेत्रों से उसे देखा और फिर गम्भीर स्वर में कहने लगे—'मूर्ख, तुम ने लोभ के वशीभूत होकर मेरे स्नेह की भेंट नष्ट कर दी ! तुम बहुत बड़े अपराधी हो, तुम्हें इस का दण्ड भुगतना होगा। नीच आदमी, आज से तुम्हारा शरीर शीशे का हो जायगा ! और कोई ठोकर या चोट लगने पर इसी पात्र की तरह, तुम्हारी देही उसी क्षण चूर-चूर होकर टूट जायगी।'

पातीराम थर-थर काँपने लगा। वह बेसुध-सा होकर साधू जी के चरणों पर गिर पड़ा और करुण-विनती करके कहा—'महाराज, मुझ पर दया करो। मेरी देही शीशे की मत करो दयालु !' पर इस प्रार्थना का उत्तर न मिला। साधू जी अन्तर्धान हो गये। पातीराम के हाथों में वही टीन का टुकड़ा रह गया !

× × ×

पातीराम जागा तो बहुत ही त्रस्त और चिन्तित था। उस ने अपराध किया है, उसे साधू जी ने शाप दिया है, उस का शरीर शीशे का हो जायगा !......

पर यह तो स्वप्न था। साधू जी तो अभी स्वयं मौजूद हैं। उन के पास जाकर अभी सब घटना सुना दी जाय।

पातीराम दौड़ा-दौड़ा दूकान पर आया। लेकिन यह क्या! साधू जी चले गए थे।

तो क्या सचमुच वे उसे 'शाप' दे गये हैं? सचमुच उस का शरीर शीशे का हो जायगा?—पातीराम के माथे पर पसीना आ गया। उस का जी अकुलाने लगा। बुद्धि घूमने लगी। तो क्या उस की देही शीशे की हो गई? साधू जी ने कहा था—'आज से तुम्हारा शरीर शीशे का हो जायगा। कोई ठोकर या चोट लगने पर उसी क्षण तुम्हारी देही चूर-चूर होकर बिखर जायगी।' हे परमात्मा!

पातीराम भय से व्याकुल हो कर साधू जी को पाने के लिए सामने की सड़क पर बेतहाशा भागने लगा।

आज से उस का शरीर शीशे का हो जायगा! शरीर शीशे का हो जायगा! शरीर शीशे का हो जायगा!—ओ साधू जी!

पर साधू जी से भेंट न हुई। गोधूलि के समय, क्लान्त होकर भूखा-प्यासा पातीराम आँगन में आकर सहारा लेकर धीरे से लेट गया।

अब क्या होगा? हे परमात्मा, उस का शरीर आख़िर शीशे का हो ही गया! अब क्या होगा? पातीराम की आँखों में आँसू भर आये।

पत्नी यह रंग-ढंग देख कर बहुत दुःखित हुई। पास बैठ कर बार-बार वह इस परेशानी की बात पूछने लगी। पातीराम वह भयानक बात उसे बताना नहीं चाहता था। चुप ही रहा, बहुत देर तक यों ही गुम-सुम पड़ा रहा।

फिर पत्नी के आग्रह करने पर उस ने उठ कर भोजन किया। तब चित्त कुछ शान्त हुआ।

खाट पर लेटा तो एक विचार उठा कि वह तो केवल सपना था। सपने की बात तो अक्सर झूठी होती है। नाहक़ ही मैं इतना परेशान हो

रहा हूँ । इस तरह से भला देही शीशे की कैसे हो जायगी ? कोई हँसी-खेल है ! मैं भी कैसा नासमझ हूँ...!

रात मज़े में कटी । पातीराम ख़ुश-ख़ुश आराम की नींद सोया ।

× × ×

सुबह सो कर उठा तो फिर उसे सब घटना याद आने लगी । स्वप्न पर उस ने फिर अविश्वास की बात भी सोच ली ।

मन ही मन यह कहा कि 'ऊँह, मैं ज़रा भी नहीं डरता । कहो तो अभी ठोकर खाकर गिर पड़ूँ । कहो तो अपने चोट मार कर दिखला दूँ !' पर तभी भीतर से यह एक आवाज़ आई कि 'अगर सचमुच शरीर शीशे का ही गया हो तो ? अगर चोट खा कर फ़ौरन देही चूर-चूर होकर बिखर जाय तो ?'

पातीराम के सिर के बाल खड़े हो गये । तब धीरे से मानो किसी ने कहा कि 'हो सकता है ।'

और माथे का पसीना पोंछ कर उस ने पत्नी को बुलाया और चिन्तित स्वर में बोला—'आज से तुम इस बात का ख़्याल रखना कि मुझे कोई ठोकर या चोट-चपेट न लगे ।'

पत्नी को कौतूहल हुआ, पूछा—'सो क्यों ?'

पातीराम ने मुँह दूसरी ओर करके कहा—'ऐसी ही कुछ बात है ।'

और वह सम्हल-सम्हल कर ज़मीन पर खाट से उतरा और सम्हल-सम्हल कर सब काम करने लगा और मन ही मन गुनगुनाता रहा कि हो सकता है, मेरी देही शीशे की हो गई हो । हो सकता है, चोट लगते ही चूर-चूर होकर बिखर जाय । मुझे बहुत सावधान रहना चाहिये ।

और सारे दिन वह मन ही मन यही कहता रहा—'मुझे बहुत सावधान रहना चाहिये ।'

× × ×

तब से फिर पातीराम अपने सब संगी-साथियों और मिलने वालों को

सचेत करने लगा कि 'भाई, इस बात का ख़्याल रखना कि मुझे ठोकर न लगे। कोई चोट-चपेट मत मार बैठना मेरे !'

पर लोग कारण पूछते तो चुप हो जाता।

इसी तरह वह सब को सावधान करने लगा और स्वयं सतर्क और चिन्तित रहने लगा। दिन-रात कंजूसी और लोभ के विपरीत आचरण करने की कोशिश करने लगा। पर ज्यों-ज्यों दिन कटने लगे, त्यों-त्यों उस की यह धारणा बद्ध-मूल होती गई कि उस की देही शीशे की हो गई है!

× × ×

पातीराम दलपतगंज का पुराना बाशिन्दा नहीं था। उस के बाप दूर के एक गाँव में रहते थे। हालत अच्छी न थी, अक्सर फ़ाका हो जाता था। फिर एक दिन बाप मर भी गये। पातीराम बहुत दुखी था।

पड़ोस में एक बुढ़िया रहती थी। उस के कोई न था। पीस-कूट कर गुज़र करती थी। अचानक उसे तीर्थ करने की हविस हो गई। पातीराम पर बड़ा विश्वास था। सौ सवा सौ रुपये थे उस के पास। यही ज़िन्दगी भर का संचय था। ख़र्चे भर को ले लिया, बाक़ी सब पातीराम को सौंप दिया कि रख लो सम्हाल कर, लौट कर ले लूँगी।

पर बुढ़िया साल भर तक न लौटी। भगवान् जाने उस का दुनिया से मन विरक्त हो गया कि मर-बिला गई कहीं। रुपये तो पातीराम के पास थे। एक दिन अचानक गाँव वालों ने देखा कि पातीराम कहीं चला गया। कहाँ गया, सो पता नहीं लगा...।

उन्हीं रुपयों से यह दूकान खोली और उन्हीं रुपयों के बल पर यह घर बना और सब गिरिस्ती जुटाई।

बहुत दिनों के बाद, अचानक एक दिन शहर में गाँव के एक किसान से भेंट हो गई। उस ने कहा कि बुढ़िया तीर्थों से लौट कर आ गई है। तुम्हें तलाश करती थी, सब से तुम्हारा पता-ठिकाना पूछती फिरती है।

पातीराम ने बल लगा कर पूछा—'क्यों, मुझे क्यों तलाश करती थी ?'

'सो तो भाई, उस ने किसी को नहीं बताया।'

पातीराम उस दिन दलपतगंज लौट आया। पर बुढ़िया का ख़्याल बँधा रहा। बहुत संयम किया। पर रहा नहीं गया। अन्त में, एक दिन पुराने गाँव में जा पहुँचा। सुना कि बुढ़िया भूखों मर गई! तब पातीराम चुपचाप लौट आया और उसी तरह फिर अपना कारोबार करने लगा...।

...रात को अचानक पत्नी ने जाग कर कहा—'सुनते हो!'

'क्यों? क्या हुआ?'—पातीराम भी उठ कर बैठ गया।

पत्नी काँपते स्वर में बोली—'मैंने अभी सपने में 'बूढ़ी अम्माँ' को देखा है।'

'ऐं! क्या कहती हो?'

'हाँ! सच कहती हूँ, देखा कि वह धाम करके लौटी है और लाठी ठोंक-ठोंक कर मुझे जगा रही है। फिर उस ने अपनी झोली में से एक जड़ी निकाल कर तुम्हारे ऊपर फेंकी और धीरे से कहा—'तू पत्थर का हो जा!' और लाठी खट्-खट् करती लोप हो गई यहीं। अभी-अभी मैंने देखा है।'

पातीराम एक क्षण स्तब्ध बैठा रहा। फिर एक गहरी साँस लेकर बोला—'यह सपना नहीं, सच्ची बात है।'

'सच्ची बात है?'—सेठानी काँप कर बोली।

'हाँ,' पातीराम ने कहा—'तुम से मैंने छिपा रक्खा था। मैं शीशे का हो गया हूँ!'

'क्या कह रहे हो?'—पत्नी भय और दुख से बोली—'यह क्या कह रहे हो?' और वह पति के पास रोती-रोती आने लगी।

पातीराम ने हाथ उठा कर घबराये स्वर में कहा—'हैं हैं! मुझे धक्का मत दे देना, गिर जाऊँगा! चूर-चूर होकर देही बिखर जायगी। दूर रहो, दूर रहो!'

पत्नी खाट के पास खड़ी होकर रोने लगी।

× × ×

चार-पाँच दिन बाद विजयादशमी का मेला शुरू हुआ। पातीराम की दूकान इस मेले में हमेशा जाती थी। बीच दड़े पर वह ठेके की जगह लेता था। ठेकेदार का मुंशी आया और बोला—'निकालो पातीराम, पेशगी दो।'

पातीराम ने कहा—'मैं दूकान न लूँगा।'

मुंशी भौंचक रहा, पूछने लगा—'क्यों ?'

पातीराम ने धीरे से कहा—'ख़तरा है मुझे।'

'ख़तरा कैसा ?'

'चोट-चपेट का। धक्का ही लग जाय। इतनी भीड़-भाड़ होगी। कहाँ तक बचूँगा !'

मुंशी ने कहा—'तुम्हारा मतलब क्या है ?'

तब पातीराम ने एक गहरी साँस ली और दुखभरे स्वर में कहा—'मैं शीशे का हो गया हूँ।'

'शीशे का ?'

'हाँ ! ठोकर लगे या चोट लगे तो फ़ौरन चूर-चूर होकर देही बिखर जायगी।'

दो-तीन संगी-साथी जो दूकान के आगे खटिया पर बैठे गप-शप कर रहे थे, यह बात सुनकर चकित रह गये। एक ने अचरज से कहा—'यह तो बड़ी अजीब बात कह रहे हो भाई ! कैसे तुम्हें यह मालूम पड़ा कि तुम शीशे के हो गये ?'

पातीराम सिर डाले बैठा रहा।

दूसरे आदमी ने कहा—'कब से तुम शीशे के हो गये ?'

'यही डेढ़-दो महीना हुआ। देखते तो हो कि मैं सब से बचा रहता हूँ। तुम सब से भी होशियार रहने को कह चुका हूँ। धक्के का, ठोकर का,

मार का, चोट का सभी का ख़तरा है। तनिक से धक्के में तो सब ख़तम हो जायगा।'

'क्या ख़तम हो जायगा?'—एक साथी ने पूछा।

'देही,'—पातीराम ने दर्दभरी निगाह से उसे ताक कर कहा—'शीशे की देही है। तुम भला क्या जानो; ज़रा भी ठसोका लग गया तो यह चूर-चूर होकर बिखर जायगी! अब बताओ, कैसे मेले में दूकान ले जाऊँ!—दस पैसों के लिए अपनी जान दे दूँ?'

सब लोग चकित हो कर उस का मुँह देखते रहे। क्या 'पागल' हो गया है?—पर वैसी तो कोई बात नहीं जान पड़ती! अच्छी तरह खाता-पीता है। हमेशा ढंग से बात करता है। आज तक किसी भी दिन कोई पागलपन की बात नहीं मालूम पड़ी। फिर यह इसे क्या हो गया?

इसी समय एक गाहक आ गया। पातीराम ने उसे सौदा दिया, पैसे ले लिये। कोई ग़लती नहीं—कोई ख़ुमारी नहीं।

पर हाय, देही उस की शीशे की हो गई है! धक्का लगे तो गिर कर चूर-चूर हो जाय, काँच की तरह बिखर जाय!...

मज़ाक तो नहीं करता है? एक दिन दोस्तों ने कहा—'यार, बनो मत! हमें तब से उल्लू बना रहे हो। बैठे-बिठाये देही शीशे की हो जाय, यह तो हम ने न कहीं सुना न देखा।'

'न कहीं पढ़ा!'—एक पढ़े-लिखे ने कहा।

जोधराज उमर में सब से बड़े थे। उन्होंने हुक्के की नली मुँह से हटा कर कहा—'पकड़ कर आज इस सुसरे के धौल जमाओ खोपड़ी पै दस-पाँच! देखें कैसी इसकी देही शीशे की है।'

रामजस बोला—'खींचूँ दूकान पर से?'

जोधराज ने कहा—'खींच-खींच। मैं आज अभी इस की अक़ल ठीक किये देता हूँ।'

रामजस बढ़ा, बढ़ कर पातीराम का हाथ पकड़ लिया और

नीचे को खींचने लगा। तब पातीराम दयापूर्ण दृष्टि से उस की ओर देख कर कहने लगा—'खींचो मत भैया, खींचो मत ! अरे, मैं गिर कर चूर-चूर हो जाऊँगा रे !'

रामजस ने धीरे से ज़ोर लगाया। तब पातीराम रुदनभरे गले से पुकारने लगा—'अरे मुझे मत मारो, अरे भैय्या, मैं मर जाऊँगा, मैं टूट जाऊँगा !'

रामजस ने उस के मुख की ओर देखा। आँखों में आँसू निकल आये थे, चेहरा बहुत कातर हो गया था। फ़ौरन हाथ छोड़ दिया।

जोधराज भी सन्न रह गये। क्या सचमुच इस की देही शीशे की हो गई है ?...

धीरे-धीरे यह बात चारों ओर प्रख्यात हो गई कि पातीराम हलवाई की देही शीशे की हो गई है।

जानी-पहचानी लोग कौतूहल से देखने को आते तो पातीराम में कोई भी परिवर्त्तन न पाते। उसी तरह दूकान पर बैठता था। सौदा बेचता था, खाता-पीता था। लोग सोचते, कहने वालों ने हँसी में कहा होगा और पातीराम से वह बात सुनाते। तब पातीराम सिर नवा कर कहता—'सच ही सुना है तुम ने, मेरी देही शीशे की हो गई है।'

लोग उस का मुँह देखते रहते।

पातीराम ठंडी साँस लेकर कहता—'भाग्य की बात है भैय्या, अब मैं और क्या कर सकता हूँ ? सब तरह की हिफ़ाजत रखता हूँ।'

'हिफ़ाजत कैसी ?'

'इसी देही की। धक्का है, ठोकर है, मार-पीट है, चोट-चपेट है, सब से बचा रहता हूँ। कुछ भी हो गया तो देही चूर-चूर होकर बिखर जायगी।'

तब 'पातीराम हलवाई' को सब लोग 'पातीराम शीशे का' कहने लगे।

...शुरू-शुरू में बस्ती में कई आदमियों ने यह कोशिश की कि पातीराम

को एक धक्का दे दिया जाय या दो-चार घूँसे मार दिये जायँ या कहीं धीरे से इसे गिरा दिया जाय।

पर जब-जब चेष्टा की गई, पातीराम सावधान हो गया और यदि ज़बरदस्ती उस के साथ हाथापाई करनी चाही तो वह इतना भयभीत और दयनीय हो उठता कि लोगों की कुछ करने की हिम्मत न पड़ती। कोई तनिक छेड़ता तो पातीराम खड़ा होकर रोने लगता, कहता—'मार डालो भैया, तुम्हें अगर मेरी जान ही लेनी है, तो ले लो। दे दो धक्का, अभी गिर कर टूट जाऊँगा, देही बिखर जायगी।' और उस की आँखों से आँसू टपकने लगते।

अन्त में, लोगों ने यह सब हरकतें बिलकुल छोड़ दीं। कोई भी पातीराम को परेशान न करता।

पातीराम उसी तरह अपनी दूकान चला रहा था। उसी तरह रहता था, पर उस ने गंगा-स्नान करना छोड़ दिया था। मन्दिर में दर्शन करना छोड़ दिया था। शहर में, बड़ी बाज़ारों में, जल्सों में, तमाशों में, शादियों में, इन सब में वह हरगिज़ न जाता। कैसे जाता? उस की देही शीशे की है।—धक्का खाकर फ़ौरन चूर-चूर होकर बिखर जायगी। इसी तरह बहुत से दिन बीत गये। उस की देही इसी तरह शीशे की रही और वह जीवित रहा।

× × ×

इस पातीराम का एक छोटा साला था, आगरे में पढ़ता था। वह अपनी नव-विवाहिता स्त्री की बिदा कराके इधर से ले जा रहा था। रास्ते में दलपतगंज की स्टेशन पड़ी। पत्नी ने 'ननदजी' से मिलने की इच्छा प्रकट की तो वह यहाँ उतर पड़ा।

साले का नाम था त्रिलोक चन्द्र। उसे बहनोई के इस रोग का तनिक भी पता न था। न उस की पत्नी ही जानती थी कि ननदोई अब शीशे के हो गये हैं।

इस लिए 'बहिन' ने बहुत सावधानी रक्खी कि पति का यह 'गुण' छिपा ही रहे। पर पातीराम से जो डर था वही हुआ।

साले-बहनोई एक ही खाट पर बैठे बातचीत कर रहे थे। पातीराम खिसक कर बिलकुल एक ओर को हो गया था। उसे तो हमेशा ही सतर्क रहना पड़ता था। शीशे की देही! कुछ हो गया तो तनिक में चूर-चूर होकर बिखर जायगी!

बड़े भाई की पत्नी बहुत मोटी हो गई थीं। छोटा साला उन्हीं की बातें हँस-हँस कर सुना रहा था।

पातीराम को उन के विषय में बड़ी दिलचस्पी थी। हँसकर कहा—

'एक फ़ायदा तुम लोगों को हुआ।'

साले ने पूछा—'क्या?'

पातीराम ने कहा—'मान लो किसी वक्त किसी दरवाज़े पर किवाड़ न हो, या कहीं आड़ करनी हो, या कहीं मेह-पानी बचाना हो, तो रामचन्द्र की बहू को खड़ा कर दिया!'

साले को बड़े ज़ोर को हँसी आई। पातीराम भी हँसने लगा। त्रिलोक-चन्द्र हँसते-हँसते अनजाने ही बहनोई के ऊपर झुक आया कि पातीराम चौंक कर—'हैं हैं!' कह कर उठ खड़ा हुआ।

त्रिलोक चन्द्र की हँसी रुक गई। डर गया बेचारा आँखें। फैला कर पूछा—'क्या हुआ?'

पातीराम ने कहा कि—'मेरी देही शीशे की है!'

× × ×

शाम की गाड़ी से उन लोगों को पहुँचा कर पातीराम घर लौटा तब झुटपुटा हो आया था।

पत्नी एक ओर बैठी फुफकार रही थीं। पातीराम के बैठते ही उस ने कहा—'अब तो तबियत हरी होगी! अपने मन की कर ली!'

पातीराम नहीं समझा, पूछा—'कैसी?'

पत्नी ने तुनुक कर कहा—'क्या कहते होंगे वे दोनों अपने मन में!

तुमने तो मेरी ज़िन्दगी ख़ार कर दी है ! तनिक चुप ही रहते ! उन से भी कह दिया !—अब मैं मायके में जाकर कैसे मुँह दिखाऊँगी ? तुम्हें तो कहे-सुने की लाज ही नहीं !'

पातीराम अपना अपराध समझ कर चुप रहा ।

पत्नी का क्रोध बढ़ चला । चिल्ला कर बोली—'क्यों कही तुम ने उस से यह बात ?'

'तो क्या करता ?'

'चुप क्यों न रहे ?'—पत्नी ने चिल्ला कर कहा ।

पातीराम को ग़ुस्सा आ गया । लेटा था, उठ कर बैठ गया और चमक कर कहा—'तो क्या धक्का खाकर उस के हाथों जान गँवाता ! वह क्या जानता था कि मेरी देही शीशे की—'

पत्नी तड़ित्वेग से उठ कर खड़ी हो गई और कुण्ठित होकर उस ने कहा—'उस के हाथों जान गँवाता ! मेरी देही शीशे की …!'

क्रोध से वह आगे बढ़ आई और उसी तैश में बोली—'देखूँ तुम्हारी जान निकल जायगी । मैं देती हूँ धक्का !'

पातीराम आँखें फाड़ कर पत्नी की ओर देखने लगा । पर पत्नी का उधर ध्यान न था । उस ने आवेश में भर कर दोनों हाथों से पातीराम को एक धक्का दे ही दिया ।

पातीराम लुढ़का और लुढ़क कर खाट से नीचे आ गिरा ।

घड़ी भर पत्नी खड़ी रही । पातीराम न उठा । तब आशंका हुई । पत्नी ने डरते-डरते पातीराम का हाथ पकड़ा । पातीराम न हिला । कलेजा काँप गया और 'हाय मैय्या' कहकर जल्दी-जल्दी वह पति की छाती टटोलने लगी तो पातीराम ने धीरे-धीरे आँखें खोलीं और आँसू बहाती पत्नी की ओर निहारता हौले से बोला—'रोओ मत सेठानी, मैं मरा नहीं हूँ । पानी लाओ, पानी पीऊँगा ।'

टूटे सपने

पत्नी को दवा की तीसरी ख़ुराक पिला कर रामप्रसाद छज्जे पर रेलिङ्ग के सहारे जा खड़ा हुआ। मुहल्ले का दूकानदार अपनी दूकान बढ़ा कर लालटेन हाथ में लटकाये चला आ रहा था। घर के नीचे आकर पूछने लगा—'बाबू, क्या बजा है ?'

रामप्रसाद ने दस मिनिट पहिले दवा दी है। बल लगा कर कह पाया—'दस।' और फिर उसी तरह हो गया।

दूर—चौराहे के पास से 'कार्नीवाल' में बजते किसी 'रेकार्ड' की प्रतिध्वनि कान के पास से गूँजती चली जा रही थी।

रामप्रसाद जाने कब तक यों रेलिङ्ग पकड़े खड़ा रहा। खड़े-खड़े पैरों पर ठण्डक चढ़ने लगी, कपड़े शीतल होने लगे।

सहसा उसे ध्यान आया, हवा तीव्र हो गई है। तब धीरे से खिड़की की किवाड़ें देकर वह भीतर को आ गया। फिर रुग्णा पत्नी के मुख पर झुक कर सुनने लगा—कितना धीमा निःश्वास है!

कमरे में 'लाइट' नहीं है। आलमारी से लालटेन की मद्धिम रोशनी आकर पीले कृश मुख को और भी करुण बना रही थी। रामप्रसाद जाने कैसा होकर उन मुँदे नयनों को टकटकी बाँध कर देखता रहा। उस के हृदय का स्पन्दन भी मानो अति क्षीण हो गया है। मानों किसी ठोस अन्धकार के बीच उस का सब 'काला' होकर अदृश्य हो गया है—कुछ नहीं सूझता है...

रामप्रसाद का व्यक्तित्व अति क्षुद्र है। किसी तरह गुज़र होती है।

महीनों से वह इधर-उधर से ऋण लेकर पत्नी की चिकित्सा करा रहा है। पर अब और उपाय नहीं है। अब और रुपये नहीं पा सकेगा। अब और ऊँचे डाक्टर की दवा न पा कर, जो कहीं सचमुच पार्वती को मृत्यु निगल ले!

रामप्रसाद की तब क्या दशा होगी? शायद पागल हो जायगा, पागल होकर नौकरी छोड़ कर, घर-द्वार छोड़ कर, सड़कों पर मारा-मारा फिरेगा। शायद पानी में डूब कर, गले में रस्सी डाल कर आत्मघात कर लेगा। जाने क्या करेगा!

इसलिए कि इस पार्वती को छोड़ कर रामप्रसाद का और कोई नहीं है। अनेक सालों तक, सब तरह के कष्ट और अभाव सह कर पार्वती के साथ मिलन हुआ है। पार्वती ही उस के दुख-दर्द का आधा अपने ऊपर लेकर उसे जीवित रख रही है। कहती रही है—दुख मत मनाया करो। दुनिया में सभी तो अमीर और बड़े नहीं हैं। ईश्वर ने जिन्हें साधन दिये हैं, वे धनवान और विद्वान हुए हैं। उन्हें सब दुनिया जानती है, उन के लिए सब ओर चिन्ता है, सब जगह आदर है। पर इसलिए क्या ग़रीब और साधारण पढ़े-लिखे लोग ज़िन्दा न रहें?

तुम्हारे सिर पर इतनी थोड़ी उमर में सब बोझ आ पड़ा। सहारा नहीं, सुविधा नहीं, अपने बल पर इतना कर लिया, यही क्या कम है! हम मोटा ही पहिन लेंगे, हम रूखा-सूखा ही खा लेंगे। ऐश-आराम ही क्या सब से बड़ी चीज़ें हैं? तुम ख़ुश रहा करो। तुम्हारे चेहरे पर हँसी नहीं आती, तो मेरा दिल डूबने लगता है।...

महीनों हुए, रामप्रसाद के चेहरे पर हँसी नहीं आई है। पार्वती ने जाने कितनी बार कहा है कि वह बहुत नाराज़ है इस बात से। पर ज्यों-ज्यों पार्वती बीमारी में डूबती जाती है, रामप्रसाद अवसन्न होता चला जा रहा है।

शादी को कुल पन्दरह महीने हुए हैं। इन्हीं पन्दरह महीनों में

रामप्रसाद कुछ का कुछ हो गया है। उस के कुछ दिन मानो पृथ्वी से बहुत ऊपर चन्द्रमा और नक्षत्रों के आस-पास बीते। फिर जैसे डाल से टूटे फूल की तरह जीवन इसी धरातल पर आ गिरा। कुछ दिन पहिले रामप्रसाद के मन में जाने कितनी चातें थीं, अब एक भी नहीं है—सब जैसे पानी में बुझ गईं। उस के चारों ओर पार्वती का पीला मुख, दवा, पैसों की चिन्ता—यही तीन चीज़ें चक्कर काटती रहती हैं। दफ़्तर की ड्यूटी पूरी करके वह रोज़ इसी तरह आधी-आधी रात तक पत्नी के पास बैठा रह कर उस का मुख निहारता रहा है। रोग की ख़ुमारी में बेहोश पार्वती 'सुन्न' होकर लेटी रहती है। कभी एकाएक जैसे बल लगा कर पलकें उघारती है। तब एकटक पति के मुख को कई क्षण तक देखती है। फिर सूखे ओठों पर जीभ फेर कर कहती है—'सोये नहीं? आराम करो।' और धीरे-धीरे थक कर पलकें गिरने लगती हैं। हौले से कहती है पलक ढाँपे—'सो जाओ।'

इसी तरह एक-एक दिन और उस के साथ एक-एक रात 'लड़ी' बना कर आगे बढ़ते चले जा रहे हैं—बिना रुके...।

शैय्या की एक पाटी पर सिर रख, रामप्रसाद पार्वती का पीला मुख देख रहा था। आज वह 'पीलापन' और दिन से ज़्यादा लग रहा था। आँखें और भीतर धँस गई हैं। साँस और धीमी पड़ गई है। हाय, उचित चिकित्सा न होने से जो कहीं पार्वती की मृत्यु...।

रामप्रसाद की कान्तिहीन आँखों से पानी बहने लगा। कुछ नहीं दिया है। धन, विद्या, बल, रूप, कीर्त्ति—कुछ नहीं दिया है। अब इस एकमात्र 'आश्रय' को भी मेरे जीवन से तोड़ कर फेंक देना चाहते हो! विधाता, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, मैंने क्या अपराध किया है? इतने निर्दय न होओ! इतनी करुणा कर दो, पार्वती को मुझ से अलग मत करो—अलग मत करो!...सहसा बेसुध पार्वती का एक हाथ पति के

हाथों पर आ गिरा। रामप्रसाद ने उस कृश हाथ को अपनी दोनों हथेलियों के बीच दाब लिया और 'ईश्वर...ईश्वर!' कह कर रो उठा।

× × ×

पार्वती को बड़े वेग से बुख़ार चढ़ आया। रामप्रसाद का दिल नीचे को बैठने लगा। माथे से पसीने की धारें छूटने लगीं। पैरों के तले ज़मीन नीचे को—नीचे को धँसती चली जा रही है। अब क्या होगा? पार्वती 'हाय-हाय' करती तकिये पर सिर पटक रही है। उस का मुख बहुत भयानक हो गया है। आँखें फटी जा रही हैं—कितनी लाल आँखें हैं! रामप्रसाद ने झुक कर एक बार काँपती ज़ुबान से पुकारा—'कैसी तबीअत है?' पार्वती ने नहीं सुना। शायद होश नहीं है...।

रामप्रसाद पागलों की तरह नंगे पैरों डाक्टर के पास भागा...।

परन्तु उस के ये पैर कितने भारी हो गये हैं! बल लगाकर हर क़दम को उठाना पड़ रहा है। डाक्टर का घर शहर के उस छोर पर है। रामप्रसाद शरीर का सब बल लगाकर अपने वज़नी पैरों को किसी तरह उठाकर भागता चला जा रहा है। पर डाक्टर का घर अभी बहुत दूर है—बहुत दूर! हाय, कैसे एक क्षण में वहाँ तक पहुँचे...!

रामप्रसाद जिस गली से होकर भाग रहा था, सहसा वह पतली होने लगी; पतली और पतली! अन्त में एकाएक उस के सामने दीवार आ गई!

एँ, क्या वह रास्ता भूल गया? यह कौन-सी गली है? डाक्टर का घर तो इधर नहीं है। हे भगवान्!

तब वह पीछे को लौटकर भागा। काली निचाट रात है। आसमान ख़ूब घनघोर है। एक बार ज़ोर से बादलों के टुकड़े गड़गड़ाये फिर 'पड़-पड़' करके मेह गिरने लगा अँधेरे में। रामप्रसाद घबराकर उस गली को जल्दी-जल्दी पार करने लगा। आज उस के पैरों को यह क्या हो गया है! वह ज्यों-ज्यों तेज भागना चाहता है, पैर भारी होते जाते हैं...।

वर्षा ज़ोरों से होने लगी। देखते-देखते गली में घुटनों-घुटनों पानी हो गया। क्या सब ओर से पानी 'रल' कर इसी गली में आ रहा है...?

और कुछ मिनिट बीतते-बीतते उस की कमर तक पानी चढ़ आया।

रामप्रसाद दीवार का सहारा लेकर बड़ी मुश्किल से अपने शरीर को इतने भरे पानी में आगे ढकेलने लगा...।

यह क्या बहा जा रहा है पानी में ?

रामप्रसाद झुक कर आँखें फाड़कर देखने लगा। जब देख न सका, तो हाथ से उस चीज़ को छूने लगा।

एँ, लाश है किसी की ! भय से काँप कर रामप्रसाद ने अपना हाथ खींच लिया।

उसी क्षण 'कड़-कड़' करके बिजली चमक उठी। पानी पर उजेला छा गया।

तब रामप्रसाद ने देखा—दूर तक कफ़नों में लिपटीं असंख्य लाशें पानी में बहती चली आ रही हैं !

बिजली का वह प्रकाश उसी क्षण बुझ गया। पर रामप्रसाद को लाशें बहती दीख रही हैं। उन के वीभत्स चेहरे भी दीख रहे हैं। तीव्र गति से एक के पीछे एक लाश आगे को बहती चली जा रही है। उन की संख्या नहीं है।

सहसा एक लाश रामप्रसाद के आगे आकर बहते से रुक गई। रामप्रसाद के हृदय का रक्त जम गया। एक बार साहस करके उस लाश के मुँह की ओर देखा—पार्वती...!

...'सुनते नहीं हो—' जैसे कहीं बहुत दूर से आवाज़ आई। रामप्रसाद ने भय से आँखें खोल दीं। तब जाना—पार्वती हाथ से छूकर उसे जगा रही है। रामप्रसाद का सब शरीर थर-थर हो रहा था। पार्वती ने उसी निर्बल आवाज़ से कहा—'कब से मैं जगा रही हूँ। क्या सपना देख रहे थे कोई बुरा ?'

रामप्रसाद क्षण भर तक पत्नी का मुख देखता रहा, फिर यत्न करके कहा—'हाँ।'

पौ फटने वाली थी। पड़ोसी बनिये का बूढ़ा बाप 'खों-खों' करके ज़ोर से खाँस उठा। दूर सड़क की धूल साफ़ करता भंगी प्रभाती गा रहा था। रामप्रसाद ने खड़े होकर छज्जे के पार आकाश देखा। सप्तर्षि पश्चिम में नीचे उतर गये थे और हलके आलोकमय पूर्वाकाश के बीच शुक्र तारा टिम-टिम होकर दमक रहा था। कहीं घंटा-घर में घड़ी ने चार बजाये।

× × ×

शिथिल मन और शिथिल गात से जब वह नित्य की तरह दवा की ख़ाली शीशी लेकर डाक्टर के यहाँ जाने लगा, तो पार्वती ने हौले से पुकारा—'यहाँ आओ।'

रामप्रसाद उस के आगे आ खड़ा हुआ। कमीज़ बहुत मैली हो गई थी; आस्तीनों के बटन टूट गये थे और सामने सिलवटें पड़ी थीं। पार्वती ने धीरे से उस कमीज़ को पकड़ लिया, फिर पति के मुरझाये हुए मुख पर अपनी अशक्त-सी दृष्टि जमाकर चुप हो रही।

रामप्रसाद पूछने लगा—'इस समय कैसा लग रहा है?'

पार्वती की आँखों में आँसू छलछला आये थे। पलक दे लिए। भरे गले से कहा—'ठीक हूँ।'

वह रोज़ यही कहती है। पर हड्डियों में घुसे रोग पर उस का कोई वश नहीं चलता है। फिर भी पति के आगे कभी अपनी यन्त्रणा की बात नहीं कहती है। रामप्रसाद इस 'ठीक हूँ' का अर्थ समझता है, समझ कर उस का कलेजा भर आता है।

पर आज वह जाने कितना 'निर्बल' हो गया है। पार्वती आँखें मूँदें निश्चल पड़ी थी। घड़ी पीछे स्वस्थ होकर उस ने पलक उघारे तो देखा—रामप्रसाद की दोनों आँखों से झर्-झर् आँसू गिर रहे हैं।

पाटी का सहारा लेकर उस ने पति को हाथ पकड़ कर बैठा लिया, फिर

चुपचाप अपने अंचल से आँसू पोंछे और स्वर को धीमा करके बोली—'पागल हो गये हो!'

रामप्रसाद एक प्रश्वास खींच कर शान्त हो गया।

पार्वती ने उस का हाथ अपने सीने पर रख लिया और ढाढ़स देकर बोली—'मैं अब अच्छी हो जाऊँगी। देखो, आज भी बुख़ार नहीं बढ़ा। दो-चार रोज़ में बिलकुल जाता रहेगा। अब काहे को अपना दिल छोटा करते हो; ख़ुशी मनाओ।'

रामप्रसाद को जैसे थोड़ी शान्ति मिली।

पार्वती बोली—'आज मेरे लिए कोई फल लेते आना।'

'अनार खाओगी?'—रामप्रसाद ने पूछा।

'हाँ, अनार लाना।'—पार्वती बोली, फिर पति के गले में अपनी सूखी बाँह डाल कर अनुनय करके कहा—'एक बात मानोगे?'

'क्या?'

'यह कमीज़ उतार दो; और दूसरी पहिन लो। मुझ से देखा नहीं जाता'—उस की आँखें फिर भर आईं।

रामप्रसाद पत्नी के सिर पर हाथ फेर कर बोला—'मैं अभी इसे उतारे देता हूँ।'

वह कुरता पहिन कर डाक्टर के यहाँ चला गया।...

रास्ते भर ख़ुश-ख़ुश रहा। पर डाक्टर के दवाख़ाने में आकर वह ख़ुशी उड़ गई। कम्पाउण्डर बोला—'कुल सत्ताईस रुपये, बाहर आने का 'बिल' होता है।'

रामप्रसाद कुछ न बोला।

नुस्ख़े को सामने कील में लगाकर कम्पाउण्डर ने फिर कहा—'मुझे मालूम था कि आप आजकल पैसों से तंग हैं। इसलिए अपने पास से दस रुपये एकाउण्ट में डाल दिये। लेकिन फिर भी सत्तरह रुपये, बारह आने बच रहे। डाक्टर साहब ने कहा है—कल हिसाब देखेंगे।'

रामप्रसाद ने कहा—'मैं कल तक दे दूँगा भाई, आप का भी दूँगा। अभी यह दवा तो दो!'

जेब में केवल एक रुपया उस के पास था। उसे फल वाले की दूकान पर भुना डाला। अनार लेकर पीठ फेरी तो सामने कोतवाली की घड़ी में नौ से ऊपर हो रहा था।

तेज़ चाल से घर तक आया। पत्नी को दवा देकर, अनार काट कर दो-चार दाने ख़ुद खाये, बाक़ी उस के पास रख दिया। फिर एक गिलास पानी पीकर यों ही दफ़्तर चला गया।

× × ×

जीवानन्द अभी नया ही नौकर हुआ था। पहाड़ी ब्राह्मण था, बहुत ही सीधा-सादा। उस से रामप्रसाद की बहुत पटती थी। दोनों की सीटें भी दफ़्तर में पास-पास थीं। जीवानन्द की पत्नी गौना होते ही अचानक मर गई थी, रँडुआ था। पर कभी भी अपने जीवन का अभाव या मृत पत्नी की बातें न करता था।

रामप्रसाद ने एक-आध बार कौतूहल करके पूछा तो हँस कर कह दिया—'हाँ, कभी-कभी याद आ जाती है।' फिर उसी हँसी के बीच कह देता—'अब इस साल देश जाकर दूसरी शादी करेंगे।'

उस ने वे दुःख उठाये नहीं हैं या उस का दिल ही इतना कठोर है। जो कहीं वह रामप्रसाद होता तो कभी ऐसा न कहता। और रामप्रसाद की पार्वती भी शायद संसार की और पत्नियों से भिन्न है। शायद कोई पत्नी अपने पति से इतना प्रेम नहीं करती है—रामप्रसाद को दृढ़ विश्वास है—इतनी रूप-सम्पदा लेकर इतना पढ़-लिख कर वह रामप्रसाद के दरिद्रता भरे घर में अपना अस्तित्व भूल कर रामप्रसाद के अति तुच्छ व्यक्तित्व पर, अति साधारण चेहरे पर सर्वस्व निछावर करके रह रही है। जीवानन्द भला क्या समझ सकता है!

पर जीवानन्द के हृदय में साथी के लिए सहानुभूति बहुत है।

रामप्रसाद जी खोल कर उस से सेवा-सहायता ले सकता है। उस से जब-तब रामप्रसाद ने कितना ही उधार ले लिया है; कभी हिसाब नहीं करता।

पर इस समय जब रामप्रसाद की 'प्रिया' उस का सब सुख 'काला' करके दुःख की घटाओं से उस का हृदय घेर कर आज मृत्यु-शैय्या पर पड़ी है और डाक्टर की ओषधि के लिए, 'प्राणाधिक' की जीवन-रक्षा के लिए जब उस के पास पैसे नहीं हैं, इस विपदा की बेला जीवानन्द ने रुपये के लिए सिर डुला दिया निषेध में। बोला—'कोरा हूँ भाई! चाचा को खेत लेना था, उन्हें सब भेज दिया। कल ही भेजा है। कल अगर तुम ने चर्चा की होती तो उन्हें हरगिज़ न भेजता।'

रामप्रसाद के ऊपर मानो एक वज़नी पत्थर आ गिरा। क्षण भर के लिए सामने की लिखावट काली होकर मिट गई। फिर अपने लिखे सब अक्षर आपस में असंगत होकर विच्छिन्न होते गये। तब उस ने हाथ की क़लम रख दी और विमूढ़ होकर पीछे लिखे पेज लौटने लगा।

जीवानन्द उस का वह भाव समझ कर काम रोक कर बोला—'देखो तो—'

रामप्रसाद ने उस की ओर नज़र कर ली। बोला—'कुरैशी के पास चाहे हों। उस से माँग देखूँ?'

आशा की क्षीण किरण पकड़ कर कह दिया—'हो आओ।'

जीवानन्द कुरैशी के कमरे में चला गया, तो रामप्रसाद का दिल साफ़-साफ़ शब्दों में कहने लगा—'उस के पास भी नहीं होंगे। तुम देख लेना, उस के पास भी नहीं होंगे।'

कि अचानक चपरासी ने कान के पास झुक कर कहा—'आप को साहब बुला रहे हैं।'

रामप्रसाद ने उत्तर में कहा—'अच्छा।' और वह अपना रजिस्टर लेकर चल दिया। सामने गैलरी से जीवानन्द लौटा आ रहा था मुसकराता।

शायद काम बन गया है। आमने-सामने हुए तो जीवानन्द ने उसी तरह हँस कर कह दिया—'उस के पास भी नहीं हैं।'...

साहब अपनी घूमने वाली चेयर पर, टेबिल के नीचे दोनों टाँगे फैलाये बैठा था। सामने ढेरों काग़ज़ों के बीच अपना 'पनडिब्बा' रख कर गिलौरी खा रहा था। बड़ा रोबदार चेहरा है। काली लम्बी मूँछें हैं, पान से ओठ लाल किये रहता है। हर समय पान उस के मुँह में रहता है।

नीले मख़मली बटुये से एक चुटकी सुरती निकाल कर मुँह में रखता हुआ बोला—'कहिये, फ़िनिश् हो गया सब ?'

'जी हाँ।'—रामप्रसाद ने कहा और रजिस्टर खोल कर उस के आगे सीधा करके रख दिया।

इस साहब को कितनी 'पे' मिलती है ? कुछ नहीं, यही छः-सात सौ। रामप्रसाद को क्या मिलता है ? अस्सी रुपये। साहब के आस-पास, घर-बाहर सब ओर रुपया ही रुपया; नोट, गिन्नी, चेक रहता है। रामप्रसाद की जेब में कुल साढ़े ग्यारह आने पैसे हैं। यहाँ सामने ये मोटे रजिस्टर हैं, जिन में हजारों-लाखों रुपयों का हिसाब है। घर में रुग्णा पार्वती है, जो ऊँची औषधि और पथ्य के बिना मृत्यु के मुख में खिंची जा रही है।

यह साहब अगर चाहे तो अभी एक लाख पा सकता है। रामप्रसाद अपने सब साथियों से सत्ताईस रुपये उधार नहीं पा सकता।

रामप्रसाद का मुँह देखो और इस का। रामप्रसाद का भाग्य देखो और इसका!...

'यह कितना है यहाँ ?'

'जी—?' रामप्रसाद ने चौंककर कहा।

'ओ ठीक है।' साहब बोला। रामप्रसाद फिर चुप होकर सोचने लगा।...

और असिस्टेण्ट ने आकर अदब से कहा—'सर, ये चार हज़ार—'

'रख दो।'—साहब ने बिना नज़र उठाये कहा।

असिस्टेण्ट नोटों की गड्डी सामने रख कर चला गया। रामप्रसाद ने

एक बार सतृष्ण आँखों से उन नोटों की ओर देखा—सौ-सौ के नोट हैं। कितने सुन्दर, कितने आकर्षक! अगर इन में से किसी प्रकार एक ही उसे मिल जाता। उसे डाक्टर को देना है। न देने पर अब वह शायद और दवा नहीं देगा रामप्रसाद को। दवा न पाकर शायद पार्वती कष्ट से तड़प-तड़प कर मर जायगी।—क्षण भर में रामप्रसाद का मन घर में रोग-शैय्या पर लेटी पार्वती के पास जा पहुँचा।...

साहब का फ़ाउण्टेन-पेन हर पेज पर शीघ्रता से 'साइन' करता चला जा रहा है। सामने टेबिल पर चार हज़ार के नोट पड़े हैं। इस पार रामप्रसाद बैठा है। उसे यदि एक नोट मिल जाता!

सहसा पान से लाल ओठों से आवाज़ निकली—'ख़ाँ साहब!' और सर्र से चेयर उधर को घूम गई।

रामप्रसाद ने एक बार चारों ओर देखा, सब क्लर्क अपने-अपने रजिस्टर पर झुके हैं। कोई नहीं देख रहा है। अगर वह इन नोटों में से—

सर्र से चेयर इधर को हो गई। ख़ाँ साहब से साहब ने क्या बात कही, कुछ पता नहीं चला।

रामप्रसाद के हृदय में अभी कितनी ज़ोर का तीव्र स्पन्दन हुआ है। धीरे-धीरे वह फिर शिथिल होने लगा।

क़लम चलाते-चलाते कहा—'कल के कागज़ात भी जल्दी साफ़ हो जाने चाहिये, समझे!'

'जी।' रामप्रसाद ने झुक कर देखा—सिर्फ़ दो पेज और हैं। तभी ख़ाँ साहब ने उधर से पुकार कर कहा—'वह 'इंश्योर' नहीं आया है सर!'

'जी—!' सर्र से कुरसी उधर को घूम गई।

खट्-खट् होते कलेजे की आवाज़ ने कहा—'जल्दी करो, जल्दी!'

'खट्-खट्'—रामप्रसाद का हाथ आगे बढ़ा और क्षण भर में लौट आकर कोट की जेब में घुस गया!

खट्-खट्-खट् !

'नहीं समझे मियाँ !'--साहब ने 'हो-हो' करके हँसी छोड़ी और सर्र से कुरसी इधर को हो गई।

खट्-खट्-खट् !

यह आख़िरी पेज पर क़लम चला। यह समाप्त। यह लो।

खट्-खट्-खट्

रामप्रसाद ने काँपते हाथों से रजिस्टर उठा लिया और डगमग होता अपनी सीट की ओर चला।

खट्-खट् !

जीवानन्द ने पूछा—'दिखा आये ?'

'हाँ।'—रामप्रसाद ने कहा।

खट्-खट् !

खट् !

× × ×

जो कहीं अभी साहब उन नोटों को गिनने लगे और असिस्टेण्ट को बुलाये और फिर रामप्रसाद की पुकार हो और उस की तलाशी ली जाय...

उस की जेब में एक सौ का नोट है। उस ने चोरी की है—चोरी ! रामप्रसाद चोर है—चोर !

उस की जेब में नोट पकड़ा गया है। उसे जेल होगी !...और घर में मृत्यु-शैय्या पर लेटी पत्नी शायद इसी तरह एक घूँट पानी न पा कर छटपटा कर मर जायगी।...

रामप्रसाद जैसे धीरे-धीरे 'अचेत' होने लगा। जैसे वह दफ़्तर में नहीं है, कुरसी पर नहीं बैठा। बहुत दूर—कहीं शब्द रहित और चेतना-हीन लोक में उस की मिट्टी-सी देह अणु-परमाणु होकर उड़ी चली जा रही है, धीरे-धीरे ...।

और जाने कब अपने आप उस का सिर रजिस्टर पर झुक गया, जैसे गहरी नींद आ रही हो ...।

कि जीवानन्द ने ज़ोर से उस का कंधा झकझोर कर कहा—'उठो, उठो!'

रामप्रसाद आँखें फाड़ कर उसकी ओर देखने लगा।

जीवानन्द ने धीरे से कहा—'साहब—'

साहब!

क्षण भर में, रामप्रसाद का चेहरा एकदम रक्तहीन होकर सफ़ेद हो गया ...।

अब वह पकड़ा जायगा...जेल होगी...पार्वती...! और क्लर्कों के बीच से जूतों की चर्रमर्र करता साहब आफ़िस से निकल गया।

जीवानन्द ने सन्तोष की साँस खींच कर कहा—'गया।'

'गया!'

रामप्रसाद ने शायद ठीक तरह से सुना नहीं है, शायद भ्रम हुआ है। जाने कैसा स्वर करके जीवानन्द से पूछने लगा—'क्या चला गया?'

'हाँ।'—जीवानन्द ने कहा—'अरे, देखा नहीं? अभी गया न, इधर से चर्र-मर्र करता। वह उस की गाड़ी जा रही है; उधर देखो।'

रामप्रसाद ने सामने खिड़की में देखा—साहब अपनी गाड़ी में बैठा चला जा रहा है।

× × ×

आध घंटा पीछे जब वह दफ़्तर से बाहर निकला तो विचित्र अनुभव हो रहा था उसे। बिलकुल नया और बहुत ही अजीब। चोरी का नोट जेब में था और वह निर्भय होकर सड़क के बीच चला जा रहा था।

एक बार चौराहे पर खड़े सिपाही को देख कर वह झिझका फिर मुसकरा कर आगे बढ़ गया ...।

परन्तु क्या यह स्वप्न है? जैसे पलक मारते वह अपने घर के सामने

आ गया। दफ़्तर से घर तक की राह कब निकल गई? बीच के दोनों चौराहे, वे कहाँ दीखे! वह स्वप्न देख रहा है क्या?

घर की किवाड़ें खुली पड़ी थीं। किवाड़ें तो हमेशा बन्द रहती थीं कैसे खुल गईं? भीतर होकर एक बार जेब से वह नोट निकाल कर देख लिया—सौ का है न?

हाँ, पूरे सौ का है। अब कोई चिन्ता नहीं है। अब वह अच्छी तरह से अपनी 'संगिनी' की चिकित्सा करा सकेगा। ऊँची से ऊँची ओषधि देकर डाक्टर उसे स्वस्थ कर देंगे। फिर एक दिन उस की पार्वती—गुलाब के खिले फूल-सा मुख उस के सामने करके कहेगी तनिक-सा मुसकरा कर—'ज़रा बुन्दा पहिना देना यह—' फिर कपोलों के किनारे दोनों बुन्दे 'चम-चम' होंगे। और पार्वती पति को एकटक अपनी ओर निहारता पाकर लज्जभरी मुसकान से खिलेगी। फिर जल्दी से लज्जा से लाल मुख को उस की गोदी में छिपा कर कहेगी—'बड़ी शरम लगती है!' ओह!...

कोई मोची सामने से होकर जा रहा था। रामप्रसाद के दरवाज़े पर झाँक कर बोला—'बाबू, जूते पर पालिश होगी?'

रामप्रसाद ने अपने जूतों की ओर देखा—कैसे भद्दे हो रहे हैं! जाने कब उन के फ़ीते टूट गये हैं। अँगुली के पास एक जूता फट भी गया है।

रामप्रसाद ने जूता उतार दिया और पूछा—'क्या लोगे?'

मोची ने दोनों जूते उलट-पलट कर देखे, फिर कहा—'बाबू, काम देख कर पैसा दे देना।'

'अच्छा।' कह कर रामप्रसाद नंगे पैरों जीने से ऊपर चढ़ने लगा।

और जब वह एक-एक सीढ़ी करके ऊपर चढ़ रहा था, तो अचानक ऐसा लगा कि जैसे कोई पार्वती के कमरे में बोल रहा है उधर।

यह स्वर तो पार्वती का ही है, बहुत ही क्षीण, आँसुओं से भरा। पर वह किस से कह रही है? क्या पति के इतने दुःख, इतने मूक कष्ट को निराकार अन्तर्यामी के आगे आँसुओं के बीच निवेदन कर रही है?

रामप्रसाद खड़ा हो गया। जहाँ वह खड़ा था, सिर के ऊपर दो झरोखे थे छोटे-छोटे, जिन का मुँह पार्वती वाले कमरे में था। उन्हीं से आवाज़ आ रही थी इधर।

यह पार्वती ही बोल रही है न!

'...मृत्यु के बाद देख नहीं पाऊँगी, इसलिए तुम्हें कष्ट दिया है। आज अन्तिम अभिलाषा पूरी हो गई। मेरे लिए तुमने जीवन भर दुःख सहे हैं, सब अपराधों की क्षमा दी है। यह अन्तिम बार क्षमा माँग रही हूँ। अब और दुःख देने की, क्षमा करने की बेला नहीं आयेगी...'

रामप्रसाद इन बातों का अर्थ न समझ पाया। क्या 'कोई और' भी इस कमरे में है? वह ताख में पैर रख कर सावधानी से मुँह लगा कर देखने लगा। देखा—पार्वती की शैय्या पर, उस की छाती के पास एक तरुण युवक बैठा है। उस की दोनों आँखों से आँसू गिर रहे हैं। पार्वती की आँखों से भी पानी बह रहा है। और पार्वती उस का एक हाथ अपने दोनों हाथों से दाबे छाती पर रक्खे है और करुणाभरी, प्यासभरी आँखें उस युवक के चेहरे पर गड़ी हैं, दोनों ओंठ थर-थर काँप रहे हैं।......

क्षण भर तक स्तब्धता रही। फिर उस युवक ने आँसू बिना पोंछे गद्गद् कण्ठ से कहा—'तुम ने अपनी यह दशा क्यों कर डाली पार्वती? मुझे पता न था कि तुम यहाँ इतने कष्ट में दिन बिता रही हो। अगर जान पाता तो सब की आँखों के आगे तुम्हें यहाँ से ले जाता...'

तब पार्वती उसी तरह आँसू बहाती बोली—'सब अभिलाषाएँ चूर-चूर हो गईं, सब सुख-स्वप्न टूट गये। प्राण तुम्हारे चरणों के पास मँडराते फिरे...' उस का गला रुद्ध होने लगा, उसी रुँधे गले से कहा—'इस हाड़-मांस को और कब तक ढोती, कब तक तुम्हारी...' उस की सूखी देही काँपने लगी। युवक माथे पर हाथ रख कर बोला—'पार्वती, रानी मेरी......

एँ ! रामप्रसाद क्या स्वप्न देख रहा है ? वह धीरे-से झरोखा छोड़ कर सीढ़ी पर उतर आया। फिर एक बार अपने चारों ओर आँखें फाड़-फाड़ कर देखा—स्वप्न है क्या ?

यह जीना क्या उस के घर का नहीं है ? ये सीढ़ियाँ नीचे कहाँ तक चली गई हैं ? पाताल-लोक तक गई हैं ? नहीं, नीचे वह आँगन दीख रहा है।

तब अभी यह उस ने झरोखे से क्या देखा है ? उस की पार्वती क्या कभी ऐसा कर सकती है ? इतनी बड़ी प्रवंचना, इतना भयानक छल !

···दीवार के उस पार से आवाज़ आ रही थी, पार्वती का प्रेमी युवक बोल रहा था—'मैं तुम्हें पहाड़ ले चलूँगा···नैनीताल में हमारी कोठी है ··बिलकुल चंगी हो जाओगी···ऐसे नर-पशु के पास अब एक दिन भी तुम्हें न रहने दूँगा···मैं उस हत्यारे से तुम्हें छुड़ा लूँगा···तुम्हारी फूल-सी ज़िन्दगी···'

आँसुओं के बीच पार्वती ने भी कुछ कहा। रामप्रसाद सुन नहीं सका। उस के चारों ओर का सब-कुछ जैसे चक्राकार होकर घूमने लगा।···

गोल-गोल घूमते घर से कब वह बाहर निकला, कब उस ने पूरी सड़क पार की, कुछ पता नहीं। निरुद्देश्य और निश्चेतन-सा रामप्रसाद बाज़ार के बीच एक फ़ुटपाथ पर खड़ा था। सहसा उस की नज़र पास वाले 'बार' पर पड़ी। दो संभ्रान्त व्यक्ति भीतर से निकले और एक विचित्र प्रकार की गन्ध छोड़ते रामप्रसाद की बग़ल से आगे बढ़ गये, ओठों में मुसकराते, सिगार का धुँआ छोड़ते। रामप्रसाद ने क्षण भर कुछ सोचा, फिर वह बिना किसी ओर देखे 'बार' में घुस गया।···

गद्देदार कुरसी पर बैठे रामप्रसाद के आगे झुक कर एक 'ब्वाय' अति शिष्टता से पूछने लगा—'हुज़ूर क्या पियेंगे ?'

'शराब लाओ !—' रामप्रसाद ने बिना हिचकिचाहट के कहा।

जेब में वह सौ का नोट पड़ा है न ! शराब पियो आज, सब व्यथा-कष्ट भुला देगी। कब से दुःख सह रहे हो, आज दो घड़ी मौज ले लो रामप्रसाद ! पियो, शराब पियो !

× × ×

पार्क की घास पर सोये पड़े रामप्रसाद को भोर की वेला एक माली ने आ जगाया, बोला—'यहाँ पानी लगेगा, हट जाओ।'

रामप्रसाद पार्क से निकल कर सड़क पर आ खड़ा हुआ और एकाएक कल शाम की सारी घटना, सम्पूर्ण वातावरण आँखों के आगे नाच उठा। क्या पार्वती अपने प्रेमी के साथ चली गई होगी ? हत्यारे के हाथों से बचा कर उस का प्रेमी ले गया होगा, आधी रात को अपनी कार में बिठा कर ? घर ख़ाली पड़ा होगा ? रामप्रसाद सरपट भागा अपने घर की ओर।

···यहाँ आकर देखा, दरवाज़ा खुला पड़ा है। चली गई पार्वती, चली गई छलनामयी !—सोचता-सोचता रामप्रसाद ऊपर के कमरे में पहुँचा तो चौंक रहा। पार्वती नित्य की तरह अपनी शैय्या पर लेटी थी। उस की सम्पूर्ण देह चादर से ढँकी थी और ऐसा लगा कि सिसकियाँ ले रही हो। रामप्रसाद की आहट पा गई है शायद। इसीलिए रो रही है क्या ? आँसू बहा कर, पैरों पड़ कर, 'क्षमा-क्षमा' पुकारने का नाटक रचेगी क्या ? परन्तु अब सब प्रदर्शन व्यर्थ है। रामप्रसाद को अब और धोखा देने की चेष्टा न करो नारी !

स्वर को संयत करके, ओठों पर व्यंग्यभरी मुसकराहट लिये रामप्रसाद ने, सिरहाने पड़ी कुरसी पर बैठ कर पूछा—'कैसी तबियत है ?'

पार्वती न बोली।

रामप्रसाद ने उसी स्वर में पूछा—'पहाड़ कब जा रही हो ? कब आयेंगे प्राणप्यारे तुम्हें ले जाने को ?'

पार्वती न बोली।

रामप्रसाद ने वाणी में विष घोल कर कहा—

'नर-पशु से बचाने वाला कहाँ चला गया ? कोई दूसरा नाटक खेलने की तैयारी है क्या ?'

पार्वती न बोली।

रामप्रसाद ने क्रुद्ध कर कहा—'चली क्यों न गई अपने प्रेमी के साथ ? चरित्रहीन औरत, तू क्यों यहाँ मेरे घर में लेटी है ? जा, उस की गोदी में जाकर लेट !'

पार्वती न बोली।

रामप्रसाद का ख़ून उबलने लगा। उस ने चिल्ला कर कहा—'बोलती क्यों नहीं पापिनी ? जवाब दे, कितनी देर में जायेगी यहाँ से ? बोल नीच !'

पार्वती न बोली।

रामप्रसाद ने आगे को झुक कर एक झपट्टे में पार्वती के ऊपर से चादर खींच ली। परन्तु पार्वती सुन्न पड़ी रही। न उस ने आँखें खोलीं, न ओठ खोले।

क्रोध से उन्मत्त होकर रामप्रसाद उस की कृश देह को झकझ रोकर कहने लगा—'बोल पापिनी, जवाब दे !'

पार्वती सुन्न रही। न उस ने आँखें खोलीं, न ओठ खोले।

तब रामप्रसाद ने घबरा कर पार्वती को एक बार ध्यान से देखा—लाश पड़ी है बेजान !

...रामप्रसाद बाहर को भागा। जीने में उस के पैर उलझे और लड़खड़ाता सीढ़ियों से नीचे आ गिरा। उठना चाह रहा था, पर उठ नहीं पा रहा था।

तब जाने कौन खिलखिला कर हँस पड़ा।